RAMPURIA

ACHARYA
SANT
BHIKANJI

(HINDI)

आचार्य सन्त भीखणजी

(जीवन-चरित्र और अध्ययन)

लेखक :

श्रीचन्द रामपुरिया बी० एल०

प्रकाशकः

हमीरमल पुनमचन्द रामपुरिया

सुजानगढ़ निवासी

मुद्रक :
नवयुवक प्रेस,
३, कमर्शियल बिल्डिंग्स, कलकत्ता
(नेताजी सुभाष रोड)

प्रथम संस्करण १००० प्रति
प्रकाशक द्वारा महासभा को अर्पित

तीन रुपया

८, सितम्बर, ४८

भूमिका

प्रातःस्मर्णीय श्रीमदाचार्य श्री भीखणजी स्वामी का यह जीवन-चरित्र पाठकों के समक्ष रखते हुए बड़ा हर्ष होता है। स्वामीजी का जीवन इतना महान्, तेजस्वी और पवित्र है कि उसमें अवगाहन करने से परमानन्द की सहज प्राप्ति हो तो उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। स्वामीजी की जीवनी के सम्बन्ध में ज्यों-ज्यों खोज की जाती है, त्यों-त्यों अधिकाधिक सामग्री उपलब्ध होती जा रही है और अब हमारी धारणा हो गयी है कि स्वामीजी के जीवन-चरित्र की व्यापक शोध के लिए कम-से-कम १० वर्ष के संलग्न अध्ययन की आवश्यकता है। स्वामीजी की सफल जीवनी वही लिख सकता है, जिसे जैन-सूत्रों का संस्कारी ज्ञान हो और जिसे सूत्रों की सुक्तियां और आज्ञाएं जिह्वाग्र हों, क्योंकि स्वामीजी का समूचा जीवन सूत्रों की परछाया या उनकी प्रतिध्वनि है। जैन-संस्कृति और जैन-जीवन के वे एक महान् प्रतीक थे। जिन-वचनों में अटूट श्रद्धा उनके जीवन का ताना-बाना था। शुद्ध जैन साधु-जीवन और श्रावक-जीवन उनके तपस्वी जीवन की एक महान् और अनन्य देन था। इस जीवन चरित्र के प्रथम खण्ड में हमने स्वामीजी की जीवनी और दूसरे खण्ड—'जीवन-विश्लेषण' में स्वामीजी के जीवन की विशेषताओं को अङ्कित करने का प्रयास किया है। स्वामीजी के जीवन की सामग्री इतनी प्रचुर और इधर-उधर बिखरी हुई है कि एक दीर्घ समय तक गम्भीर अध्ययन के बिना उसका सङ्कलन एक असम्भव सा काम है। यह जीवन-चरित्र प्रायः कलकत्ते

में ही लिखा गया है, जहां स्वामीजी के जीवन-विषयक अप्रकाशित साहित्य एवं उनकी कृतियों की बहुत ही कम उपलब्धि रही है। जीवन सामग्री की शोध जब कभी साधु-सन्तों को सेवा का मौका लगा, की गयी और कलकत्ते में उसे लिख कर तैयार किया गया है। सम्भव है इस तरह के सङ्कलन-कार्य में त्रुटियाँ रही हों। पाठकगण ऐसी त्रुटियां हमारे ध्यान में लाने की कृपा करें, ताकि उन्हें भविष्य में सुधार सकें।

इस जीवन चारित्र के द्वितीय खण्ड —'जीवन विश्लेषण' के अन्तर्गत हमने आठ प्रकरण ही दिये हैं। प्रेस के मंथर गति से चलते हुए कार्य को देखते हुए साहस नहीं हुआ कि बाकी और १६ प्रकरणके, जो तैयार हैं, छपने तक प्रकाशन को रोक कर रखा जाय। इस दृष्टि से कई मित्रों के सुझाव को स्वीकार करते हुए जीवन-चरित्र जिस प्रकरण तक छप सका, उसी तक प्रकाशित कर पाठकों के सामने रखना उचित समझा। स्वामीजी की जीवनी की विशेषताओं को प्रदर्शित करने वाले १६ प्रकरण जो तैयार हैं और जिनके बिना ही वर्तमान संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है, दूसरे संस्करण में अन्तर्निहित रहेंगे। इन प्रकरणों के शीर्षक इस प्रकार हैं—(१) स्वामीजी के जीवन की विनोद कथाएं; (२) स्वामीजी जो धर्म-कथाएं; (३) विराट् व्यवस्था-पुरुष; (४) विचक्षण न्यायाधीश एवं न्याय-प्रेरक स्वामीजी; (५) महान् माहण और तपस्वी स्वामीजी; (६) स्वामीजी के व्यक्तित्व का प्रभाव और जग-वन्दना; (७) अनुभव-वाणी और ज्ञान-वाणी (८) फुटकर प्रसंग; (९) गम्भीर रोग के चिकित्सक; (१०) दिग्विजयी चर्चा-वादी; (११) स्वामीजी के समय के बाद और उनका एकीकरण; (१२) रोगी परिचर्या और स्वामीजी; (१३ स्वामीजो और परिश्रमशीलता;

(१४) स्वामीजी और अद्भुत वचन-सिद्धि के प्रसंग; (१५) उपाध्याय रूपमें स्वामीजी; (१६) सत्य के पुजारी और निर्भीक नेता रूप में स्वामीजी।

इस जीवन चरित्र के तैयार करने में हमें श्री पन्नालालजी भंसाली द्वारा संग्रहीत "स्वामीजी के दृष्टान्तों" से बड़ा सहारा मिला। इसके लिए हम उनके प्रति कृतज्ञ हैं।

यदि यह जीवन-चरित्र पाठकों के जीवन निर्माण और स्वामीजी के जीवन-सम्बन्ध में जो गलत फहमियां फैलायी जा रही हैं, उन्हें दूर करने में जरा भी सहायक हुआ, तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा। वैसे तो यह जीवन चरित्र स्वान्तः सुखाय ही लिखा गया है और उसे लिखते समय अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति हुई है—आत्म-संतोष की बात तो कर ही नहीं सकता, क्योंकि स्वामीजी की जीवनी, जैसा कि मैं ऊपर लिख आया हूं, वर्षों के संलग्न और एकान्त स्वाध्याय की आवश्यकता रखती है, फिर भी यह जीवन-चरित्र भावी लेखकों के लिए कुछ दिशा सूचक होगा ऐसी आशा है।

ता० ८-६-४८
१५, नूरमल लोहिया लेन
कलकत्ता

श्रीचन्द रामपुरिया

अनुक्रमणिका

खण्ड : १

जीवन-कथा

खण्ड : २

जीवन-विश्लेषण

आचार्य संत भीखणजी

१

गृह-जीवन और दीक्षा

—जन्म—

संत भीखणजी का जन्म मारवाड़ राज्य के कंटालिया ग्राम में सं० १७८३ को आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी के दिन मूल नक्षत्र में हुआ था।

इस दिन को 'सर्व सिद्धा त्रयोदशी' भी कहा जाता है। संत भीखणजी को बड़ी विकट और प्रतिकूल परिस्थितियों में से गुजरना पड़ा था फिर भी वे अपने चरम लक्ष्य से नहीं भटके। उन्हें अपने मिशन में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। उनका जीवन-ध्येय किस प्रकार सम्पूर्ण सिद्ध हुआ यह पाठकों को आगे जाकर स्वयं ही मालूम हो जायगा। अतः उनका इस दिन जन्म ग्रहण करना उनके सफल भावी जीवन का ही संकेत था।

उनके पिता का नाम साह बलूजी संकलेचा और माता का नाम दीपाँबाई था। साह बलूजी और दीपाँबाई दोनों ही बड़े सज्जन, सरल, सीधी-सादी प्रकृति के थे। ऐसे माता-पिता की सन्तान सुशील और गुणवान हो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

संत भीखणजी के शरीर में अनेक लक्षण और शुभ चिन्ह थे। उनके दांये पैर में उर्द्ध रेखा का चिन्ह था। दांये हाथमें मच्छ रेखा थी। दसों अंगुलियों पर चक्र थे और पेट पर नाभि के पास स्वस्तिका का चिन्ह था और वहीं अन्यत्र ध्वजा का आकार। ये शुभ चिन्ह उनकी भावी महानता और होनहारता के सूचक थे। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात'—यह कहावत ठीक ही है।

संत भीखणजी बचपनसे ही बड़े वैरागी थे। धर्मकी ओर उनकी विशेष रूचि रहती। उनको जो कुछ शिक्षा मिली वह गुरु के यहाँ ही। वे महाजनी

हिसाब में बड़े होशियार थे। उनकी बुद्धि बड़ी कुशाग्र थी और उन्हें मौके की अच्छी उपजती थी।

—यौवन—

बड़े होने पर घर के काम-काज की सार-सम्भाल और देख-रेखमें वे बड़े कुशल निकले। पंच-पंचायती के कामों में वे अग्रसर रहते। गाँवमें वे बड़े बुद्धिमान समझे जाते थे और उनकी बड़ी पेठ थी। शुरू से ही वे बड़े दूरदर्शी थे।

संत भीखणजीके गृहस्थ-जीवनमें उपरोक्त गुणों पर प्रकाश डालने वाली अनेक घटनाएँ घटी होंगी परन्तु दुर्भाग्यवश आज हमें उनसे वंचित रह जाना पड़ता है। उनके गृहस्थ-जीवनकी बहुत थोड़ी घटनाओं की ही नोंध हमें मिलती है फिर भी वे उनकी असाधारण तीक्ष्ण बुद्धि और दूरदर्शिता का परिचय देती हैं। हम उनमें से दो-एक घटना यहाँ देते हैं।

एक दफे की बात है कि संत भीखणजी के गाँवमें किसीके घर से गहनों की चोरी हो गई। वहाँ एक अन्धा कुम्हार रहता था, जो बड़ा दम्भी था और कहा करता कि उसके मुँह देवता बोला करते हैं। गाँववालों का उस पर पूरा विश्वास जम चुका था। चोर का पता लगाने के लिए उसे बुलाया गया। संत भीखणजी गाँवमें सब से बुद्धिमान गिने जाते थे। वह कुम्हार उनके पास पहुँचा और कुछ देर इधर-उधर की बातें कर चोरी के प्रसंग पर आया और स्वामीजी से पूछने लगाः—"आप किस पर बहम (सूवा) धरते हैं?" तीक्ष्ण बुद्धि श्री भीखणजी को आगे की बात ताड़ते हुए देर न लगी। वे उसकी ठग विद्या को समझ गए। बोले : "मेरा तो 'मजने' पर संदेह है।" यह बात दिनमें हुई। रातमें अन्धा कुम्हार चोरी वाले के घर पर पहुँचा। बहुत आदमी इकट्ठे हुए। कुम्हार कुछ देर इधर-उधर के टटमस करता रहा, फिर बोला, "डाल दे रे डाल दे गहनें डाल दे।" परन्तु गहनें इस तरह कौन डालता? लोग चोर का नाम प्रगट

करने पर जोर देने लगे। इस पर कुम्हार ने तड़क कर कहा—"मजना चोर है, उसीने गहने चुराए हैं।" घर का मालिक यह सुन कर हक्का-बक्का रह गया। वह बोला—"मजना क्या गहने चुरावेगा! यह तो मेरे बकरे का नाम है।" यह सुन कर सब लोग हंस पड़े। मौका देखकर संत भीखणजी भी वहाँ आ पहुँचे और दिन में कुम्हार से जो बात चीत हुई थी उसको प्रगट करते हुए बोले: "तुमलोगों की अक्ल कहाँ गई जो आँखवालों के द्वारा चुराए हुए गहनों का पता अंधे आदमी से लगवाना चाहते हो!" इस तरह भीखणजी ने अपने बुद्धि-बल से कुम्हार की पोल खोलकर समूचे गाँव को उसकी ठगी से बचाया। स्वामीजी दंभ और ढोंग को कभी पसंद नहीं करते थे। उनकी प्रकृति बड़ी खरी थी। आगे जाकर उनकी इस प्रकृति ने उनके जीवन में बहुत बड़ा कार्य सिद्ध किया।

संत भीखणजी की अनोखी सूझ, असाधारण बुद्धिमत्ता, कार्य-कुशलता और तत्क्षण बुद्धि को प्रगट करने वाली गृहस्थ-जीवन की एक अन्य घटना इस प्रकार है:—

एक बार वे किसी गाँव से आ रहे थे। साथ में बोलाऊ (रक्षक) था। वह राजपूत था। उसको तमाखू का व्यसन था। रास्ते में तमाखू पूरी हो गई। वह बोला:—"क्या करूँ, तमाखू बिना चला नहीं जाता।" संत भीखणजी ने सोचा—"अब यह छाटी डालने ही वाला है।" यह सोच कर तुरंत ही वे बोले: "ठाकर साहब! आगे चलिए, दिन थोड़ा है। मैं तमाखू खोजता हूँ।" इस तरह कह राजपूत को कुछ आगे बढा दिया। परन्तु उससे विशेष चला नहीं गया। उसे जंभाइयाँ आने लगीं और वह रास्ते में ही बैठ गया। स्वामीजी पीछे से एक आरण छाना जला उसको महीन पीस और उसकी एक पुड़िया बाँध राजपूत के पास आकर बोले:—"लीजिए यह तमाखू मिली तो है, परन्तु है कुछ ऐसी वैसी सी ही।" राजपूत ने चिमटी भर सूंघ कर कहा "अच्छी ही है। काम

चल जायगा।" ठाकुर होशियार हो गया और जल्दी-जल्दी चलने लगा। दोनों रास्ता तय कर दिन रहते-रहते घर पहुँचे। स्वामीजी की बुद्धि काम न करती और वे चतुराई से काम न लेते तो शायद दोनों को रास्ते में ही कष्ट से रात काटनी पड़ती।

संत भीखणजीको सामाजिक कुरीतियों से बड़ी चिढ़ थी। एक बार वे ससुराल गए। भोजनके लिए गए तो स्त्रियाँ गालियाँ गाने लगीं- "ओ तो कालो घनो ने काबरोजी लाल।" भीखणजीने भोजन करना बंद कर दिया। उनका साला लंगड़ा था। इस बातका सहारा लेकर वे विनोद करते हुए बोले: "आप अंधे खोड़ेको तो अच्छा बतलाते हैं और अच्छे को बुरा। क्या यह ठीक है?" फिर "यह मुझे पसन्द नहीं है"—ऐसा कह अपना विरोध दिखाते हुए बिना भोजन किए हो उठ चले। उनके इस तीव्र विरोध का फल जो होने का था वही हुआ।

—विवाह—

भीखणजी का विवाह कब हुआ यह मालूम नहीं परन्तु पता चलता है कि वह छोटी उमरमें ही कर दिया गया था। उनके एक पुत्री हुई थी। स्वामी जी स्वभाव से हो वैरागो थे। इस प्रकार बाल्यावस्था में ही वैवाहिक जीवन में डाल दिए जाने पर भी उनको आन्तरिक वैराग्य भावना में फर्क नहीं आया। भोग और विलासमें उन्हें चैन न मिलता और संसार से वे उद्विग्न और खिन्न चित्त रहते थे। उनका गृहस्थ-जीवन बड़ा संयत था। उनकी पत्नी भी उन्हीं की तरह धार्मिक प्रकृति की और बड़ी विनयशील थी। ऐसी युगल जोड़ी कम मिलती है।

—वैराग्य और दीक्षा—

संत भीखणजी के माता-पिता गच्छवासी सम्प्रदायके अनुयायी थे। अतः पहले-पहल भीखणजी का इसी सम्प्रदायके साधुओंके पास आना-जाना शुरु

हुआ। बादमें इनके यहाँ आना-जाना छोड़ वे पोतियाबंध साधुओंके अनुयायी हुए। इनके प्रति भी उनकी भक्ति विशेष समय तक टिक न सकी और वे बाईस सम्प्रदाय की एक शाखा विशेष के आचार्य श्री रुघनाथजी की सम्प्रदाय के अनुयायी हुए।

इस तरह भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके संसर्गमें आने से चाहे और कोई लाभ हुआ हो या न हुआ हो परन्तु इतना अवश्य हुआ कि सांसारिक जीवनके प्रति भीखणजी की उदासीनता दिन-पर-दिन बढ़ती गई और वह यहाँ तक बढ़ी कि उन्होंने दीक्षा लेनेका विचार ठान लिया। उनके साथ उनकी पत्नीने भी दीक्षा लेनेका विचार कर लिया, और दोनों ब्रह्मचर्यका पालन करने लगे। पूर्ण युवा अवस्थामें ब्रह्मचर्य पालन का नियम ले दोनोंने उठते हुए यौवन की उद्दाम तरंगों पर वैराग्य और संयम की गहरी मुहर लगा दी। प्राप्त भोगों को ठुकरा कर दोनोंने सच्चे त्यागी होनेका परिचय दिया। कहा भी है—

वत्थगन्धमलंकारं इत्थियो सयणाणि य।
अच्छन्दा जे न भुंजन्ति न से चाइ त्ति वुच्चइ॥
जे य कन्ते पिए भोए लद्धे वि पिट्ठिकुव्वइ।
साहीणे चयई भोए से हु चाइ त्ति वुच्चई॥

अर्थात्—जो वस्त्र, गन्ध, अलंकार, स्त्री और शयन का परवशतासे सेवन नहीं करता वह कोई त्यागी नहीं है; पर जो कान्त और प्रिय भोगों को भी पीठ दिखा देता है और स्वाधीन भोगोंको भी छिटका देता है वही वास्तवमें त्यागी है।

ब्रह्मचर्यके नियमके साथ-साथ एक अन्य नियम भी दोनोंने ग्रहण किया। उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि जब तक दीक्षा की इच्छा पूरी न होगी तब तक दोनों एकान्तर—एक दिनके बाद एक दिन—उपवास किया करेंगे। इस प्रतिज्ञा

के कुछ अर्से बाद ही श्रीमद् भीखणजी की पत्नी का स्वर्गवास हो गया। अब वे अकेले ही रह गए। इस वियोगसे उनकी वैराग्य-भावना को और भी उत्तेजना मिली। "काल का क्या भरोसा है ? जैसे कुश की नोक पर टिके हुए जल-बिंदु को गिरते देर नहीं लगती वैसे ही यह जीवन कब विलीन हो जाय क्या ठिकाना है ? शुभ काममें एक समय का भी प्रमाद करना भयंकर भूल है।" भीखणजी रात-दिन इन्हीं विचारों में लीन रहने लगे। लोगोंने उनको फिर विवाह करने के लिए समझाया परन्तु उन्होंने किसी की न सुनी। अच्छे सम्बन्ध मिलते हुए भी उन्होंने सबको ठुकरा दिया और यावज्जीवन ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा कर ली। संत भीखणजी का वैराग्य कितना उत्कट था, यह उपरोक्त घटना से साफ-साफ प्रगट होता है। दीक्षा लेनेके पूर्व उन्होंने अपनी योग्यता को किस प्रकार कसौटी पर कसा था, इसका अनुमान एक अन्य घटना से भी होगा।

जब भीखणजी का दीक्षा लेने का विचार हुआ तो उन्होंने अपनी अजमाइश के लिए कैरका ओसाया हुआ (कैर उबाल कर जो जल निकाल दिया जाता है) जल लिया। उसे एक ताम्बेके लोटेमें डाल कर उसमें राख मिला उसे बंडेल (हण्डियोंकी जेट) में रख दिया। बहुत देर बाद जब वह जल नितर गया—स्वच्छ हो गया तो उसे पिया। इससे उनको बड़ा कष्ट हुआ। साधु बनने पर पके जल पीनेके नियम को वे निभा सकेंगे या नहीं इसी जाँचके लिए उन्होंने निस्वादसे-निस्वाद पके जल को लेकर अपनी अजमाइश की। दीक्षा लेनेके कोई ४२ वर्ष बाद संत भीखणजीने हेमराजजी स्वामीको अपने जीवन की इस घटनाका जिक्र किया और बोले : "साधु होनेके बाद आज तक वैसा निरस पानी पीनेका काम नहीं पड़ा।"

इस तरह अपनेको अनेक तरहसे ता-तपास कर वे भीतर ही भीतर मुनि-जीवनके लिए सम्पूर्ण रूपसे तैयार हो गये और फिर दीक्षा लेनेका विचार

माता दीपाँबाई से प्रगट किया और दीक्षाके लिए अनुमति मांगी।

कहा जाता है कि जब संत भीखणजी उदरमें थे तब माता दीपाँबाई को स्वप्नमें एक केशरी सिंह का दृश्य दिखाई दिया था। इससे उनकी धारणा थी कि उनका पुत्र महा यशस्वी होगा और वह उस शुभ मुहुर्त की धीर चित्तसे प्रतीक्षा कर रही थीं। अपने पुत्रके मुखसे दीक्षा की बात सुनकर दीपाँबाई को बड़ी निराशा हुई। साह बलूजीका देहान्त हो चुका था। भीखणजी अपनी माता के एकलौतें पुत्र और एक मात्र सहारे थे। इस परिस्थिति में उनका दीक्षा लेनेका विचार माताको कैसे सह्य होता? उन्होंने दीक्षा के लिए अनुमति देनेसे इन्कार कर दिया।

भीखणजीके एक भूआ थी। वह उनसे बोली: "यदि तुम दीक्षा लोगे तो मैं कटारी खाकर मर जाऊँगी।" इन सब कठिनाइयोंके उपस्थित होने पर भी भीखणजी अपने विचारसे पीछे नहीं हटे। संसारसे उनका चित्त खिन्न हो चुका था और साधु-जीवनके प्रति उनकी लौ लग चुकी थी। अपनी भूआ से उन्होंने कहा: "कटारी क्या कोई पूरी है कि कोई उसे पेटमें खा डाले? ऐसी व्यर्थ बातोंसे मुझे अटकाने की चेष्टा न करें।"

भीखणजी आचार्य रुघनाथजीके पास दीक्षा लेना चाहते थे। जब उनको यह सब बातें मालूम हुईं तो वे खुद दीपाँबाई से आज्ञा दिलवाने की चेष्टा करने लगे। दीपाँबाई सिंह-स्वप्नकी चर्चा करती हुई बोलीं: "भीखण के भागमें साधु होना नहीं, कोई वैभवशाली पुरुष होना वदा है। मैं अपने होनहार पुत्रको आपको कैसे सौंप सकती हूँ?" इस प्रकार हठ करने पर आचार्य रुघनाथजीने दीपाँबाईसे कहा: "तुम्हारा यह स्वप्न मिथ्या नहीं जायगा। प्रव्रज्या लेकर भीखण सिंह कीतरह गूंजेगा।" आचार्य की यह भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य निकली। माता की धारणाके अनुसार भीखणजी कोई ऐश्वर्य्य शाली मुकुट धारी राजा भले ही न हुए हों परन्तु वे चारित्रात्मा-

ओंके सम्राट, त्यागियों के मुकुटमणी तथा तत्वज्ञान और अखण्ड आत्म-ज्योतिके धारक महापुरुष अवश्य निकले।

दीपाँबाई ने आखिर दीक्षाकी अनुमति दे दी। अपने वैधव्य जीवन के एक मात्र सहारे और दुलारे पुत्रको इस प्रकार दीक्षा की अनुमति देकर दीपाँबाईने जिस साहस और धर्मप्रेम की भावनाका परिचय दिया वह एक महान् माताके अनुरूप ही था। उनकी यह न्यौछावर दुनिया को एक कितनी बड़ी देन थी इसका आभास पाठकों को आगे जाकर होगा।

दीक्षा लेते समय संत भीखणजीने करीब १०००) रुपये अपनी माताके पास छोड़े।

संत भीखणजीकी दीक्षा बगड़ी शहर में हुई। आचार्य रुघनाथजीने खुद अपने हाथसे उन्हें दीक्षा दी। उस समय संत भीखणजी की अवस्था २५ वर्ष की थी। इस तरह २५ वर्ष का वह तेजस्वी युवक अद्भुत वैराग्य भावनाओंसे उच्छ्वासित हो त्याग मार्ग का बीड़ा उठा निश्रेयशके मार्ग पर अग्रसर हुआ।

२

दीक्षा के बाद ८ वर्ष

— विचक्षण शिष्य —

संत भीखणजी की दीक्षा सम्वत् १८०८ की सालमें हुई। दीक्षाके बाद के ८ वर्ष को हम उनके जीवन का स्वाध्याय काल कहेंगे। इस दीर्घ काल को उन्होंने जैन शास्त्रों के गम्भीर अध्ययन और चिंतन में बिताया और प्रचुर ज्ञान-धन संचय किया। उनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण थी। वे तत्त्व को बहुत ही शीघ्र ग्रहण कर सकते। थोड़े ही दिनों में उन्होंने जैन दर्शन और धर्म का तलस्पर्शी और गम्भीर ज्ञान प्राप्त कर लिया। तात्त्विक चर्चा में उनकी अबाध गति हो गई। हँस में जैसे नीर-क्षीर का विवेक होता है, वैसे ही तत्त्व को अतत्त्व से पृथक करने में उनकी बुद्धि बड़ी सतौल थी। गहरे अध्ययन से उन्हें आभास होने लगा जैसे शुद्ध दर्शन और धर्म-क्रिया दोनों ही का साधु संघ में अभाव हो। ऐसा विवेक हो जाने पर भी आत्मबल इतना दृढ़ नहीं हो पाया था कि वे खुलम खुल्ला इस बातको प्रगट कर सकते। हालाँ कि बीच-बीच में वे आचार्य रुघनाथजी से तत्त्व ज्ञान, धर्म और आचार-विचार विषयक ऐसे गूढ़ प्रश्न अवश्य पूछ बैठते जो उनके गंभीर पाण्डित्य का ही परिचय नहीं देते परन्तु साधु समाज के आचार-विचार पर भी एक टिप्पणीसे होते और एक धीमी भूचाल की सी लहर छोड़ जाते। आचार्य रुघनाथजी ऐसे प्रश्नों के उपस्थित होने पर या तो चुप रहते या टालमटोल जवाब देकर परिस्थिति को बचा लेते। संत भीखणजी उनके बड़े प्रिय शिष्य थे और उनकी बुद्धि पर उन्हें नाज था। संत भीखणजी के तीव्र वैराग्य भाव के कारण आचार्य उन्हें आन्तरिक स्नेह से देखते और यह बात प्रगट-सी थी कि भावी आचार्य वे ही होंगे।

गुरु शिष्य का यह स्नेह और विनय भाव ७ वर्षों तक एकधार चलता रहा। न शिष्य की जिज्ञासु वृत्ति ने उसमें अविश्वास पैदा किया और न आचार्य की शिथिलाचार वृत्ति ने उसमें खेद-खिन्नता।

—राजनगर का चौमासा—

परन्तु इसके बाद ही एक ऐसी घटना घटी, जिसने संत भीखणजी के जीवन में एक महान् परिवर्तन कर दिया। सम्वत् १८१५ की बात है। मेवाड़में राजनगर नामक एक शहर है। उस समय भी वह एक बहुत बड़ी वस्ती थी। वहाँ आचार्य रुघनाथजीके सम्प्रदायके अनेक श्रावक (अनुयायी) रहते थे। इन श्रावकोंमें अधिकांश महाजन थे। इनमें कई श्रावक अच्छे विद्वान और आगम रहस्यको समझने वाले थे। वे साधुओंके आचार-विचार की शिथिलतासे खेद-खिन्न थे और बात यहाँ तक बढ़ी कि इन श्रावकोंने आचार्य रुघनाथजी और उनके सम्प्रदायके साधुओंको वन्दना नमस्कार करना तक छोड़ दिया। उस समय आचार्य रुघनाथजी मारवाड़में थे। उनके कानोंमें भी यह बात पड़ी और वे चिन्तित हो गए। उन श्रावकोंको समझा कर रास्ते पर लाना जरूरी था। परन्तु यह काम जिस-तिस से बनने का नहीं था। उन्होंने शिष्य भीखणजी को ही इसके उपयुक्त समझ उन्हें चुना और बोले—"जाओ! तुम बुद्धिमान हो। राजनगर के श्रावकों की शंकाओं को दूर करो। देखो! जिससे वे फिर वदंना करने लगे।"

संत भीखणजी ने गुरु आज्ञा शिरोधार्य कर राजनगर के लिए विहार किया। श्री टोकरजी, हरनाथजी, वीरभाणजी और भारीमालजी ये अन्य चार साधु उनके साथ थे। संवत् १८१५ का चौमासा राजनगर में ही किया। यह चौमासा संत भीखणजी के भावी जीवन पर बड़ा ही गहरा प्रभाव डालने वाला हुआ। श्रीमद् जयाचार्य ने इस चौमासे को 'चौमासा गुणकार' कहकर सम्बोधित किया है।

—एक आत्म-वञ्चना—

संत भीखणजी के पधारने पर श्रावक उनके पास आए और अपने अभियोग का पुलिन्दा उनके सामने खोलते हुए बोले—"आपलोग तो जान-बूझ कर दोषोंका सेवन करने लगे हैं। खुले आम स्थापित स्थानों में रहते हैं और इस तरह आधाकर्मी दोष का सेवन करते हैं। निरोग अवस्था में भी नित्य एक ही घर की गोचरी करते हैं। बिना आज्ञा जिस-तिस को मुंड लेते हैं। वस्त्र, पात्र, उपधि विषयक सारी मर्यादाओं को तिलाञ्जली दे दी है। न आप में शुद्ध श्रद्धा है, न शुद्ध आचार फिर हम वंदना किस तरह कर सकते हैं?"

एक ओर श्रावकों की ये सची बातें थीं और दूसरी ओर आचार्य की टेक। एक ओर मिथ्या आत्म-सन्मान का सवाल था और दूसरी ओर सच्चाई के आगे सिर झुकाना। सत्य को सत्य साबित होने देना या मिथ्यापर सत्य का आवरण डाल देना—भीखणजी के हृदय में इन द्वन्द्वोंने काफी संघर्ष पैदा किया होगा! उनकी अवस्था बड़ी विचित्र हुई होगी! परन्तु सत्य-प्रेम का झरना अभीतक अन्तर वेगसे कहाँ फूट पड़ा था कि वे न्याय मार्गको ग्रहण कर सकते। उन्हों ने बुद्धि-बलसे श्रावकों को समझाने की चेष्टा की और अनेक तरह के उपायोंका सहारा ले उन्हें पैर छू कर वन्दना करने को राजी किया। श्रावकोंने वन्दना करना तो शुरू किया परन्तु वास्तवमें उनके हृदय की शंकाएँ दूर नहीं हो सकीं। उन्होंने भीखणजीसे कहा भी—"आप वैरागी हैं इसलिये हम आपका विश्वास कर वन्दना करते हैं बाकी हमारी शंकाएँ निर्मूल नहीं हो सकी हैं।"

आचार्यकी बात रखनेके लिये भीखणजीने कुछ चालाकीसे काम लिया और मिथ्या पक्षका समर्थन कर झूठको आश्रय दिया। इस प्रकार वे आत्म-वञ्चना का जहर पी गए। गुरु और साधु पदकी मर्यादाको रक्षाके लिए साधु होते हुए भी उन्होंने श्रावकोंके सत्य विचारोंको गलत प्रमाणित किया और आगम विरुद्ध आचार का मण्डन किया।

—अनुताप और प्रतिज्ञा—

इस घटनाके बाद ही सन्त भीखणजी को तीव्र ज्वरका प्रकोप हुआ। शीतसे उनका शरीर थर-थर काँपने लगा। दाह-ज्वर से अत्यन्त वेदना उत्पन्न हुई और उसके साथ ही उनके विचारोंमें तुमुल संघर्ष हुआ। विचार धारामें एक अपूर्व क्रान्ति—गहरी हल-चल मच गई। आत्म-वञ्चनाके पापसे उनकी आत्मा काँपने लगी। उन्हें तीव्र पश्चाताप और आत्म-ग्लानिका बोध होने लगा। उन्होंने विचारा--"मैंने कैसा अनर्थ किया! सचोंको झूठ ठहराया! यदि इस समय ही मेरी मृत्यु हो जाय तो मुझे कितनी नीच गतिमें जाना पड़े! मैंने जिन भगवानके वचनोंको विपरीत ठहरा कितना बड़ा पाप किया! दुर्गतिमें जाते समय मेरे ये गुरु किस तरह शरणभूत होंगे? इस पापसे कौन मेरा त्राण कर सकेगा?" उनकी आत्मा इन पवित्र भावनाओं को भाने लगी और आत्म वञ्चनाके विषको बटोर-बटोर कर बाहर फेंकने लगी। इस तरह धर्म-ध्यानको ध्याते-ध्याते उन्होंने प्रतिज्ञा की—"यदि मैं इस बीमारी से मुक्त हुआ तो अवश्य ही निष्पक्ष हो सच्चे मार्गको अपनाऊँगा। जिनेश्वर देव भाषित सच्चे सिद्धान्तोंको अङ्गीकार कर उनके अनुसार जीवन चलाने में किसीकी परवाह नहीं करूँगा।" इस प्रकार उनके हृदय-पटल खुल गए। एक दिव्य आन्तरिक प्रकाश से उनका अन्तर-लोक जगमगा उठा और यह प्रकाश उनके जीवन-पथको अन्तिम घड़ियों तक आलोकित करता रहा। तीव्र बुखारके समय उन्होंने कितनी पवित्र प्रतिज्ञा की! आन्तरिक वैरागीको परभवका कितना भय होता है—यह भीखणजीके जीवन की इस घटनासे कितना स्पष्ट प्रगट होजाता है।

—मौन स्वाध्याय—

विपत्तिमें जहाँ पामर प्राणी हाय-तोबा कर और वेदनाको समभावसे सहन न कर और भी अधिक अघका सञ्चय करता है, वहाँ सच्चा मुमुक्षु पुरुष अपनी

आत्माके उद्धारमें प्रवृत्त होता है। ज्यों-ज्यों शारीरिक वेदनाका वेग बढ़ता है, त्यों-त्यों उसके हृदयकी वृत्तियोंकी अन्तमुर्खता भी बढ़ती जाती है और उसकी आत्मा अधिकाधिक सत्यके दर्शनके लिये दौड़ने लगती है। सांसारिक प्राणीकी दृष्टि जहाँ मिथ्या आत्म-सन्मान, वाह्य-सुख और प्रतिष्ठाकी खोज करती है वहाँ मुमुक्षुकी दृष्टि अन्तरकी ओर ताकती है और अपने किये हुए बुरे कार्योंका पश्चाताप कर आत्म-शुद्धि करती है। मुमुक्षु कभी मानापमानकी धारामें बह भी जाता है तो भी उसे तैर कर बाहर आनेमें देर नहीं लगती। सन्त भीखणजीके विषयमें भी ऐसा ही हुआ। वे आन्तरिक मुमुक्षु थे और इसीलिए अपनी भूलका इस तरह प्रमार्जन कर सके। सन्त भीखणजीको अब सत्यके दर्शन हो चुके थे फिर भी वे अधीर न हुए। आत्मार्थी देख-देख कर पैर धरता है। वह अधीरता को महान् पाप समझता है। वह अपने विचारोंको एक बार दो बार नहीं परन्तु बार-बार सत्य की कसौटी पर कसता है और जब जरा भी सन्देह नहीं रह जाता तब जो अनुभवमें आता है उसे साफ-साफ प्रगट करता है। स्वामीजीने भी अन्तिम निर्णयके लिए इसी मार्गका अवलम्बन किया। उन्होंने धीर चित्त से दो बार सूत्रों का सूक्ष्म अध्ययन किया। गुरु की पक्ष ले झूठ को सत्य प्रमाणित करना जहाँ महान् दुःख का कारण होता वहाँ गुरुके प्रति भी अधीरज वश कोई अन्याय कर बैठना दुर्गति का कारण था। इस दुधारी तलवार से बचने के लिए मौन स्वाध्याय और आगम दोहन ही एक मात्र उपाय था। इस दोहन से उन्हें इस बात का पूरा-पूरा भरोसा हो गया कि श्रावकों का पक्ष सत्य है और साधु लोग वास्तवमें ही जिन-आज्ञा का तिरोभाव कर रहे हैं। अब अपनी भूल को सुधारना अभी उन्होंने जरूरी समझा और निर्भिकता से अपना निर्णय देते हुए बोले—

"श्रावको ! तुमलोग सच्चे हो। हमलोग झूठे हैं। गुरुसे मिलकर हमलोग शुद्ध मार्ग को ग्रहण करेंगे।" संत भीखणजी की इस खरी बातको सुनकर श्रावक

बड़े ही हर्षित हुए और उनके मनमें संघके उद्धार की जो महत्वाकांक्षा थी वह उन्हें शीघ्र ही सफल होती प्रतीत हुई। श्रावक बोले—"हमें आपसे ऐसा ही भरोसा था।"

—वापिस आचार्यके पास—

श्रीमद् भीखणजीने जिनोक्त मार्ग अंगीकार करने की प्रतिज्ञा की थी, इससे पाठक यह न समझें कि उन्होंने आचार्य रुघनाथजी के शिष्य न रहने की ही ठान ली थी और वे एक अलग आचार्यके रूपमें प्रगट होना चाहते थे। जहाँ सच्चा मार्ग हो वहाँ गुरु रूपमें या शिष्य रूपमें रहना उनके लिय समान था। आत्म-कल्याण का प्रश्न ही उनके सामने प्रमुख था। इसलिये शिष्य रहकर भी वे उसे साध सकें तो उन्हें कोई आपत्ति न थी। अतः आचार्य रुघनाथजी के पक्ष को गलत समझ लेने पर भी उन्होंने उसी समय उनसे अपना सम्बन्ध नहीं तोड़ दिया। बल्कि उल्टा उन्होंने यह विचार किया कि आचार्य महाराज से मिलकर वे शास्त्रीय आलोचना करेंगे और सारे सम्प्रदाय को हर उपाय से शुद्ध मार्ग पर लानेका प्रयत्न करेंगे। उनके न मानने पर उनका क्या कर्त्तव्य होगा, इसका निश्चय वे कर चुके थे परन्तु इस निश्चय को वे तभी काममें लाना चाहते थे जब कि आचार्य महाराज को समझने का पूरा अवकाश दे देने पर भी वे सन्मार्ग पर न आवें। इस समय श्रीमद् भीखणजी ने जिस विनय और धीरज का परिचय दिया वह अवश्य ही उनकी मुमुक्षुता, आन्तरिक वैराग्य और धर्म भावना का द्योतक था।

श्रीमद् भीखणजी ने अपने साथ जो अन्य साधु थे उनको भी सारी बातें अच्छी तरह समझायीं। वास्तविक साधु आचार और विचार की बातें उनको बतलाईं। भीखणजी के विचारों को सत्य समझ सबने उनका अनुमोदन किया। चातुर्मास समाप्त होने पर संत भीखणजी ने अन्य साधुओं के साथ राजनगर से विहार किया। वे राजनगर से विहार कर सोजत की ओर

अग्रसर हुए। रास्ते में छोटे-छोटे गाँव पड़ते थे। इसलिये साधुओंके दो दल कर दिये। एक दलमें साधु वीरभाणजी थे। श्रीमद् भीखणजी ने वीरभाण जी को समझा दिया था कि यदि वे रुघनाथजी के पास पहले पहुँचे तो वहाँ इस विषय की कोई चर्चा न करें। क्योंकि यदि पहले ही बात सुनकर पक्ष-पात हो गया तो समझानेमें विशेष कठिनाई होगी। उन्होंने कहा—"मैं खुद पहुँच कर सब बातें विनय पूर्वक उनके सामने रखूँगा और उन्हें सत्य मार्ग पर लाने की चेष्टा करूँगा।"

घटना-चक्र से साधु वीरभाणजी ही पहिले सोजत पहुँचे। उस समय आचार्य रुघनाथजी वहीं थे। श्री वीरभाणजी ने वन्दना की। आचार्य रुघ-नाथजी ने पूछा—"श्रावकों की भ्रान्तियाँ दूर हुई या नहीं?" साधु वीरभाण जी ने उत्तर दिया—"श्रावकोंके कोई शंका होती तब न दूर होती? उन्होंने तो सिद्धान्तों का सच्चा भेद पा लिया है। हमलोग आधाकर्मी आहार करते हैं। एक ही जगह से रोज-रोज गोचरी करते हैं। वस्त्र पात्रादि उपादानों के निश्चित परिमाण का उल्लंघन करते हैं। अभिभावकों की आज्ञा बिना ही दीक्षा दे डालते हैं, हर किसी को प्रव्रजित कर लेते हैं। इस तरह अनेक दोषों का हमलोग सेवन करते हैं और केवल सेवन ही नहीं, परन्तु उनको उचित भी ठह-राते हैं। श्रावक सत्य ही कहते हैं, उनकी शंकाएँ मिथ्या नहीं हैं।" यह सुनकर आचार्य रुघनाथजी स्तम्भित हो गये। उन्होंने कहा—"यह क्या कहते हो?" वीरभाणजी ने कहा—"मैं सत्य ही कहता हूँ। मैंने जो कहा वह तो नमूना है। पूरी बात तो भीखणजी के आनेसे ही मालूम होगी।" इस तरह धीरज न होने से वीरभाणजी ने सारी बात कह डाली। श्रीमद् भीखणजी इस घटना के बाद पहुँचे। आते ही उन्होंने आचार्य महाराज को वन्दना-नमस्कार किया। परन्तु उन्होंने रुख न जोड़ी और न वन्दना-नमस्कार स्वीकार किया। यह देख कर श्रीमद् भीखणजी समझ गये कि हो न हो

वीरभाणजी ने पहले ही सारी बात कह दी है। श्रीमद् भीखणजी ने इस उदासीनता का कारण पूछा, तब आचार्य महाराज ने उत्तर दिया— "तुम्हारे मनमें शंकाएँ पड़ गई हैं। तुम्हारा और हमारा दिल नहीं मिल सकता। आज से हमारा और तुम्हारा आहार भी एक साथ नहीं होगा।" श्रीमद् भीखणजी ने मन में विचार किया—"इनमें और इनमें दोनों में ही समकित नहीं है। परन्तु अभी बहस करना निरर्थक है। शायद ये सोचते हों कि मैं हर हालत में इनसे अलग होना चाहता हूँ और इन्हें गुरु नहीं मानना चाहता। इसलिये उचित है कि मैं उनकी इस धारणा को दूर कर उनके हृदय में विश्वास उत्पन्न करूँ कि मेरे विचार ऐसे नहीं हैं। मुझे शिष्य रूप में रहना अभीष्ट है, बशर्ते कि सन्मार्ग के अनुसरण में कोई रुकावट न हो। यह सोच कर वे बोले— "यदि व्यर्थ ही मेरे मन में शंकाएँ पड़ गई हों तो उन्हें दूर कीजिए। मुझे प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध कर भीतर लीजिये।" इस तरह उन्होंने आचार्य महाराज की व्यर्थ आशंका को दूर कर सहभोजी बन, वार्त्तालाप करने का सुअवसर प्राप्त किया।

इसके बाद अवसर देखकर श्रीमद् भीखणजी ने आचार्य महाराजके साथ विनम्रता पूर्वक आलोचना शुरू की। उनका कहना था—"हमलोगोंने आत्म-कल्याण के लिये ही घरबार छोड़ा है, अतः टेक छोड़कर सच्चे मार्ग को ग्रहण करना चाहिये। हमें शास्त्रीय वचनों को प्रमाण मानकर मिथ्या मान्यतायें न रखनी चाहिये। पूजा-प्रशंसा तो कई बार मिल चुकी है, पर सच्चा मार्ग मिलना बहुत ही कठिन है। अतः सच्चे मार्गकी तुलनामें इन बातों को नगण्य समझना चाहिये। शुद्ध जैन मार्गको अंगीकार करने पर आप ही हमारे पूज्य रहेंगे। आप पुण्य-पाप का मेल मानते हैं। एक ही काममें पुण्य और पाप दोनों समझते हैं—यह ठीक नहीं है। अशुभ योगसे पापका बन्ध होता है और शुभ योगसे पुण्य का संचार होता है, परन्तु ऐसा कौन सा योग है जिससे

एक ही साथ पुण्य और पाप दोनों का संचार होता हो? अतः आप अपनी पकड़ को छोड़कर सच्ची बात को ग्रहण कीजिये। सूत्रों के वचनों पर श्रद्धा रखें। जिन-आज्ञा के बाहर कोई धर्म नहीं है। आभ्यन्तर आँखें खोल कर और जिन-प्रवचनों पर ध्यान देकर पकड़ी हुई टेक को छोड़ देना चाहिये। न शुद्ध श्रद्धा ही हमारे हाथ आई है, न शुद्ध आचार। हम लोगों ने आत्मा के निस्तार के लिये ही घर छोड़ा है। इसलिये आपको बारम्बार निवेदन करता हूँ और अन्य कोई भावना नहीं है। सब को एक दिन परभव में जाना है। श्रद्धा का प्राप्त करना दुर्लभ है। जिनधर्म बिना आत्मा का कल्याण नहीं। अतः पक्षपात को छोड़ दें; सूत्रों की बात मानने पर आपही हमारे नाथ हैं।" परन्तु आचार्य रघुनाथजी पर श्रीमद् भीखणजी की इन बातों का कोई असर नहीं पड़ा। उलटे वे अधिक क्रुद्ध हो उठे। संत भीखणजी ने सोचा अब उतावल करने से काम नहीं होगा। जिद्द को दूर करने के लिये धीरज से काम लेना होगा। मौका देख कर फिर उन्होंने प्रार्थना की कि इस बार चातुर्मास एक साथ किया जाय जिससे कि सच्च-झूठका निर्णय किया जा सके। परन्तु आचार्य महाराज ऐसा करने के लिये राजी नहीं हुए।

इसके बाद श्रीमद् भीखणजी बगड़ी में फिर आचार्य महाराज से मिले और फिर चर्चा कर सच्चे मार्ग पर आने का अनुरोध किया। परन्तु उन्होंने एक न सुनी। अब भीखणजी को साफ-साफ मालूम होगया कि आचार्य समझाये नहीं समझ सकते। अतः उन्होंने सोचा कि अब मुझे अपनी ही चिन्ता करनी चाहिये। यह सोचकर स्वामीजी ने आचार्य महाराज से सम्बन्ध तोड़ दिया।

३

प्रभु के पथ पर

—सम्बन्ध विच्छेद के बाद—

इस प्रकार आचार्य रुघनाथजीसे अपना सम्बन्ध विच्छेद कर श्रीमद् भीखणजीने अपने लिये विपत्तियोंका पहाड़ खड़ा कर लिया। उस समय श्री रुघनाथजी एक प्रतिष्ठित आचार्य समझे जाते थे। उनके अनुयायी भी बहुत थे। श्रीमद् भीखणजीके अलग होते ही आचार्य रुघनाथजीने उनका घोर विरोध करना शुरू कर दिया। उन्हें भयभीत कर फिर से स्थानकमें लौट आनेको बाध्य करनेके लिए शहरमें सेवकके द्वारा ढिंढोरा पिटवा दिया गया—"कोई भी भीखणजीको उतरनेके लिये स्थान न दे। जो जान-सुन कर स्थान देगा, उसको सर्व संघ की आण-दुहाई है"। श्रीमद् भीखणजी इस विरोधसे तनिकभी विचलित न हुए। सिंहकी तरह अपने निश्चय पर डटे रहे। विचार किया—"यदि इस विपत्तिसे घबड़ा कर फिर स्थानकमें चला गया तो वापिस पुराने जालमें फँस जाऊँगा और पुनः उससे निकलना सरल न होगा।" यह सोचकर भविष्य की कठिनाइयोंकी तनिक भी चिन्ता न करते हुए उन्होंने बगड़ी शहरसे विहार कर दिया। विहारकर जब वे बगड़ी शहरके बहिर्द्वारके समीप आये, तो बहुत जोरसे आँधी चलने लगी। जोरकी हवा बहनेके समय विहार करना उचित न समझ, वे पासकी जैतसिंहजी की छत्रियोंमें ठहरे।

जब आचार्य रुघनाथजीको यह मालूम हुआ तो वे अनेक लोगोंको साथ ले छत्रियों में आये और श्रीमद् भीखणजीसे जोर-शोरसे धर्म-चर्चा शुरू की। वे बोले—"यह पंचम आरा है। इसमें इतनी कड़ाईसे साधुत्वका पालन सम्भव नहीं। तुम्हें जिद्द छोड़, वापिस हमारे साथ आ जाना चाहिये"। भीखणजीने जवाब दिया: "पंचम आरा अवश्य है परन्तु धर्म एक स्थाई वस्तु है। समयसे उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता। इस आरेमें

भी धर्म उसी रूपमें पाला जा सकता है जिस रूपमें वह पूर्व आरोंमें पाला जाता रहा। समयके बहानेको सामने रखकर शिथिलाचारका पोषण नहीं किया जा सकता। यदि पूर्व कालमें शिथिलाचार बुरा और निन्द्य था तो अब भी वह वैसाही जघन्य है। हम तो जिनेश्वर देवकी आज्ञाको शिरोधार्य कर शुद्ध संयम—साधुत्वपालन करना चाहते हैं।" यह सुन आचार्य रुघनाथजीकी निराशाका ठिकाना न रहा। अब आशा का अन्तिम धागा भी टूट गया। श्रीमद् भीखणजी आचार्यके प्रिय, असाधारण विद्वान और प्रतिभाशाली शिष्य थे। ऐसे साधुका संघमें होना एक बड़े गौरवकी बात थी। श्रीमद् भीखणजीके इस आशा-शून्य उत्तरको सुनकर आचार्य रुघनाथजीकी आँखोंमें आँसु बह निकले। यह देख साधु उदयभाणजी बोले :"आचार्य! आप एक टोलेके अधिनायक हैं। आपको ऐसा नहीं करना चाहिये"। आचार्य रुघनाथजीने कहा: "किसीका एक जाय उसे भी फिक्र होता है—यहाँ तो भला एक साथ पाँच जा रहे हैं"।

आचार्य रुघनाथजीके इस मोहको देखकर भी श्रीमद् भीखणजी अपने निश्चयसे विचलित न हुए। करीब ८ वर्षसे वे आचार्य रुघनाथजीके संघमें थे। इस कारणसे पारस्परिक प्रेम-भाव होना स्वाभाविक ही था। फिर भीखणजी तो अपने गुरुके विशेष स्नेह-भाजन रहे। यह सब होने पर भी वे अपने पथसे तिल मात्र भी डिगे नहीं। उन्होंने सोचा :"जिस दिन मैंने घर छोड़ा था उस दिन मेरी माताने भी स्नेह वश अनेक आँसू बहाये थे, परन्तु मैंने उस दिन उन आँसुओंकी कुछ भी परवाह न कर घरवार त्याग दिया तो अब इन आँसुओंकी कीमत ही क्या है? यदि मैं पुनः इनके साथ मिल गया तो मुझे परभवमें विशेष रोना पड़ेगा"। यह सोचकर संत भीखणजी दृढ़चित्त रहे।

—श्रेयस्की ओर—

अब आचार्य रुघनाथजीके क्रोधका पारावार न रहा। श्रीमद् भीखणजीकी इस दृढ़ कटिबद्धतासे एक बड़े टोलेके अधिनायक माने जाने वाले आचार्यके अभिमानको गहरा धक्का लगा। उन्हें क्रोध आना स्वाभाविक था। आवेशमें आकर श्रीमद्

भीखणजी से बोले : "अच्छा तो तू अब देखना, तेरे कहीं भी पैर न जमने पायेंगे। आगे तू है और पीछे मैं हूँ।"

संत भीखणजीने आचार्य रुघनाथजीके इन क्रोध भरे वचनोंका बड़ी ही शान्तिसे जवाब दिया: "मैं तो परिषहके लिये तुला हुआ हूँ। इस तरह डराया नहीं डर सकता। यह जीवन तो क्षण भंगुर है। आखिर मनुष्य जीकर कितने काल जीता है।"

हमें यहाँ सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन्‌के निम्नलिखित शब्द याद पड़ जाते हैं:—"दुःख जीवनका कोई अकस्मात् आगन्तुक साथी नहीं, बल्कि जीवनके केन्द्रमें उसकी स्थिति है। दुःख और क्लेश में ही समस्त महत्कार्य सिद्ध हुए हैं।

"जीवनका लक्ष्य सांसारिक सुख (प्रेयस्) नहीं बल्कि परम कल्याण (श्रेयस्) है। सुखका जीवन और जीवनका सुख दोनों एक चीज नहीं हैं। यदि दुःख हमें अपने जीवनके लक्ष्यके समीप पहुंचाता है तो यह भी उतना ही बड़ा सुख है जितना कि कोई सुखमय जीवन। तीव्र से तीव्र यन्त्रणा भी यदि अपने उद्देश्य की सिद्धिमें सहायक हो तो सुखपूर्वक स्वीकारकी जा सकती है।" जर्मन कवि और नाटककार गेटेने बड़े मार्मिक शब्दोंमें कहा है: "पर्वतकी चढ़ाईमें शिखर मनको खींचते हैं, रास्तेकी पेड़ियाँ नहीं।"

संत भीखणजीकी उस समयकी अन्तर्भावना पर विचार करें तो वे इसी रूपमें सोचते हुए दिखाई देंगे। निःसन्देह ही उन्होंने 'प्रेयस्' से 'श्रेयस्' को अधिक ऊँचा स्थान दिया था और कण्टकाकीर्ण मार्गको अपनानेमें इस 'श्रेयस्' का आकर्षण ही उन्हें खींच रहा था।

—बरलू में : महत्व पूर्ण चर्चाएँ—

इसके पश्चात् भीखणजीने निर्भयताके साथ बगड़ीसे विहार कर दिया। आचार्य रुघनाथजीने भी उनके पीछे-पीछे विहार किया। बरलूमें फिर गहरी चर्चा हुई।

आचार्य रुघनाथजीने कहा—"यह पंचम आरा है, दुषम काल है, पूरा साधुपना नहीं पल सकता"।

श्रीमद् भीखणजीने जवाब दिया:—"दुषम कालमें सम्यक् चारित्र पालन करनेके उद्यम में कमी आनेके बदले और अधिक बल और पुरुषार्थ आना चाहिये। भगवानने जो पंचम आरेको दुषमकाल बतलाया है, उसका अर्थ यह नहीं है कि इस कालमें कोई सम्यक् रूपसे धर्मका पालन हो न कर सकेगा। पर उसका अर्थ यह है कि चारित्र निर्वाहमें नाना प्रकारकी शारीरिक और मानसिक कठिनाइयाँ रहेंगी, इसलिये चारित्र पालनके लिये बहुत अधिक पुरुषार्थकी आवश्यकता होगी। भगवानने आचारांग सूत्रमें साफ कहा है: —'जो शिथिलाचारी और पुरुषार्थ हीन होंगे वे ही कहेंगे कि इस कालमें शुद्ध संयम नहीं पाला जा सकता—बालव संघयण हीन होनेसे पूरा आचार नहीं पाला जा सकता"। यह सुनकर आचार्य रुघनाथजीको महान् कष्ट हुआ, फिर भी बात सत्य होनेसे इसका प्रत्युत्तर नहीं दे सके।

फिर आचार्य रुघनाथजीने दूसरी चर्चा छेड़ी। उन्होंने कहा—"केवल दो घड़ी शुभ ध्यान करने और शुद्ध चारित्र पालनेसे ही केवलज्ञान प्राप्त हो सकता है। इस संघमें रहते हुए भी यह किया जा सकता है, अतः बाहर होनेकी आवश्यकता नहीं।"

संत भीखणजीने कहा—"साधु-जीवन केवल घड़ी दो घड़ी शुद्ध संयम पालनेके लिये नहीं है, परन्तु वह एक निरन्तर साधना है। चारित्रकी साधनामें, सच्चा साधु एक पल मात्र भी ढीला नहीं चल सकता। दो घड़ी शुभ ध्यान और चारित्रसे केवलज्ञान प्राप्त होनेकी बात अमुक अपेक्षासे है, वह सर्वत्र लागू नहीं हो सकती। यदि केवलज्ञान पाना इतना सरल हो, तब तो मैं भी श्वासोश्वास रोककर दो घड़ी तक शुभ ध्यान कर सकता हूँ। 'प्रभव' और 'शय्यंभव'को केवलज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, तब क्या उन्होंने दो घड़ी भी साधुपना नहीं पाला था? भगवान महावीरके १४ हजार साधु शिष्योंमें केवल सात सौ ही केवली थे। आपके कथनानुसार तो उन्होंने दो घड़ीके लिये भी शुद्ध संयम नहीं पाला। भगवान महावीरने १२ वर्ष, १३ पक्ष तक मौन ध्यान किया परन्तु केवल ज्ञान तो उन्हें

इस दीर्घ तपस्याके बादही प्राप्त हुआ। क्या आप कह सकते हैं कि इस अवधिमें दो घड़ीके लिये भी उन्होंने शुभ ध्यान नहीं ध्याया ? अतः दो घड़ीमें केवलज्ञान प्राप्त करनेकी बात अमुक अपेक्षासे है। अमुक अपेक्षासे केवल दो घड़ीमें केवलज्ञान प्राप्त हो सकता है इसलिये यह जरूरी नहीं कि केवल दो घड़ीका समय ही इसके लिये निर्धारित कर लिया जाय और शेष जीवनको शिथिलाचारमें बिता दिया जाय। साधुको जीवनके प्रत्येक पलमें जागरुक रहनेकी आवश्यकता है। उसके जीवनका प्रत्येक पल संयम और तपस्याकी निरन्तरतासे सजीव रहना चाहिये। खाते-पीते, उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते–फिरते साधुके प्रत्येक कार्यमें जागृति चाहिये तभी उसकी आत्माका उद्धार होगा"। इस तरह अनेक प्रकारकी चर्चाएँ हुई परन्तु आचार्य रुघनाथजीके हृदय पर कोई असर न पड़ा।

आचार्य रुघनाथजीके जयमलजी नामक चाचा-गुरु थे। वे भी एक टोलेके नायक थे। वे प्रवृतिके बड़े ही सरल और भद्र थे। वे श्रीमद् भीखणजीके पास आये। श्रीमद् भीखणजीने उनको सब बातें समझाई। साधु जयमलजी श्रीमद् भीखणजीके सिद्धान्तोंकी सच्चाईसे प्रभावित हुए और उनका साथ देनेका निश्चय किया। यह बात जब आचार्य रुघनाथजीके कानों तक पहुँचो तो उन्होंने जयमलजीको बहका दिया : "आप भीखणजीके साथ मिल जायेंगे तो आपका कोई अलग टोला न रहेगा। आपके साधु भीखणजीके साधु माने जायेंगे। इससे भीखणजी का काम बन जायगा परन्तु आपका कोई नाम नहीं रहेगा।" इस तरहकी बात सुन जयमलजोका विचार फिर गया। उन्होंने श्रीमद् भीखणजोके साथ मिलनेका विचार छोड़ दिया। अपनी असमर्थता प्रगट करते हुए उन्होंने साफ शब्दोंमें कहा–"भीखणजी ! मैं तो गले तक डूब चुका हूँ। आप शुद्ध साधु–जीवनका पालन कीजिये हमारे लिये तो वह अशक्यही है"। इस तरह आचार्य रुघनाथजी नाना प्रकारकी बाधाएँ भीखणजीके मार्गमें उपस्थित करते थे परन्तु वे जरा भी विचलित होने वाले न थे।

—वीर-गोतम की जोड़ी—

अब संत भीखणजीने आत्मोद्धारके लिये पुनः दीक्षा लेनेका विचार किया और इसके लिये वे एकाग्रतासे तैयारी करने लगे। इस समय संत भीखणजीके साथ भारीमालजी नामके साधु और इनके पिता कृष्णोजी भी थे। ये दोनोंही संत भीखणजीके स्वहस्त दीक्षित साधु थे। कृष्णोजीकी प्रकृति बड़ी उग्र थी। वे साधु-जीवनके लिये अयोग्य थे। यह देखकर संत भीखणजी भारीमालजीसे बोलेः "तुम्हारे पिता साधु बननेके योग्य नहीं है। हम नई दीक्षा लेने का विचार करते हैं। जोरोंसे विरोध होनेकी सम्भावना है। आहार-पानीकी कठिनाई पग-पग पर होगी। इन कठिनाइयोंको झेलनेकी हिम्मत कृष्णोजीमें नहीं मालूम देती। साधु जीवनमें वाणीके संयमकी भी विशेष आवश्यकता है। इसका कृष्णोजीमें अभाव है। अनेक कटु वचनोंको सहना होगा। तुम्हारी क्या इच्छा है—मेरे साथ रहना चाहते हो या अपने पिता के साथ?"

साधु भारीमालजीने दश वर्षकी अवस्थामें दीक्षा ली थी। चार वर्ष तक वे आचार्य रुघनाथजीके टोलेमें थे। इस समय उनकी अवस्था केवल १४ वर्षकी थी। बालक साधु भारीमालजीने दृढ़ताके साथ कहा : "मैं आपके साथ ही रहूँगा। मुझे पितासे कोई सम्पर्क नहीं है। मैं तो शुद्ध साधुत्व पालनेका इच्छुक हूँ, मुझे आपका विश्वास है। मैं आपके साथही रहूँगा"। फिर भीखणजीने कृष्णोजीसे कहाः "हमारा पुनः दीक्षा लेनेका विचार है। चारित्र पालन बहुत मुश्किल है, अतः हम आपको साथ नहीं रख सकते"। कृष्णोजीने कहा—"यदि मुझे साथ नहीं रखते तो मेरे पुत्रको भी मुझे सौंप दें। उसको आप नहीं ले जा सकते"। भीखणजी बोलेः "यह आपका पुत्र रहा। मैं मना नहीं करता। आप इसे अपने साथ ले जा सकते हैं। मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है"। तब कृष्णोजी साधु भारीमालजीको लेकर दूसरी जगह चले गये।

साधु भारीमालजी पिताके इस कार्यसे बड़े असन्तुष्ट हुए। उन्होंने इस बातकी प्रतिज्ञा कर ली कि जीवन-पर्यन्त कृष्णोजीके हाथका आहार पानी नहीं लूँगा। इस तरह अनशन करते हुए दो दिन निकल गये। भारीमालजी पर्वतकी तरह दृढ़ रहे। तब कृष्णोजी भी हतोत्साह हो गये और साधु भारीमालजीको फिर संत भीखणजीके पास लाकर छोड़ दिया और बोलेः "यह आप ही से राजी है। मुझे तो यह जरा भी नहीं चाहता। इसको आहार पानी लाकर दीजिये जिससे यह भोजन करे। इसका पूरा यत्न रखिएगा। और आप नई दीक्षा लें उसके पहिले मेरा भी कहीं ठिकाना लगा दें"। यह सुनकर संत भीखणजीने कृष्णोजीको आचार्य जयमलजीके पास भेज दिया।

बालक साधु भारीमालजी एक बड़ी कड़ी आँचसे निकले। संत भीखणजी वैसे ही मनुष्योंके बड़े अच्छे पारखी थे। एक जौहरीकी तरह उन्हें मनुष्योंकी परख थी। इस कसौटी पर खरे उतरनेके बाद तो साधु भारीमालजीके प्रति उनका आकर्षण और भी अधिक हो गया। उन्होंने अपने हृदयमें समझ लिया कि वह बालक कितने मूल्यवान सत्त्वका बना हुआ है। धर्म पर प्राण न्यौछावर कर देनेवाले साधुओंकी ही उन्हें जरूरत थी और साधु भारीमालजीके रूपमें उन्हें एक ऐसे ही दृढ़-चित्त शिष्यका संयोग मिला था। संत भीखणजीने अपने कुशल हाथोंसे इस होनहार बालकको घड़कर किस तरह महान् बनाया और उसके भाग्यको किस तरह चमकाया यह आगे जाकर पाठकोंको मालूम होगा।

—तेरापन्थी नामकरण का इतिहास—

विहार करते-करते संत भीखणजी जोधपुर पहुँचे। साधु टोकरजी, हरनाथजी, भारीमालजी और वीरभाणजीने उनके साथ ही आचार्य रुघनाथजीसे सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया था। वे भी विहारमें साथ थे। थोड़ेही समयमें और ८ साधु उनके साथ आ मिले और इस तरह साधुओंकी कुल संख्या १३ हो गई।

इस समय तक १३ श्रावक भी उनके श्रद्धालु हो गए। १३ साधुओंमें ५ आचार्य रुघनाथजीकी सम्प्रदायके, ६ जयमलजी और २ अन्य सम्प्रदायके थे।

उस समय साधु नियत स्थानोंमें रहने लगे थे। इन नियत स्थानोंको 'स्थानक' कहा जाता था और वे साधुओंके ठहरनेके निमित ही बनाए हुए होते थे। शाक्य मुनि गौतम बुद्ध और भगवान महावीर समकालीन होने पर भी जहाँ बौद्ध मुनि विहारोंमें उतरते वहाँ जैन मुनियोंके लिए याचित स्थानोंमें ठहरने का ही विधान था। नियत स्थानोंमें उतरना जैन धर्ममें अनाचार—विपरीत आ-चरण माना गया है और आधाकर्मी-दोषका सेवन कहा गया है। अतः सन्त भीखणजी इन 'स्थानकों' में उतरनेके घोर विरोधी थे। आचार्य रुघनाथजी और उनके विचारोंमें एक बड़ा अन्तर यह भी था। चूँकि संत भीखणज और उनके संगी-साथी साधुओंने स्थानकों का बहिष्कार कर दिया था अत उनके श्रद्धालु श्रावकोंने भी सामायिक आदि धर्म-क्रियाओंके लिये स्थानक जान छोड़ दिया।

एक दिन बाजारकी खुली दुकानमें कई श्रावक सामायिक और पौषध कर रहे थे। उस दिन उस समयके जोधपुर के दिवान फतेहचन्दजी* सिंघी का बाजार होकर निकलना हुआ। बाजारके चौहट्टेमें श्रावकोंको सामायिक पौषध करते देख उन्हें आश्चर्य हुआ। कौतुहल वश उन्होंने श्रावकोंसे कारण पूछा। प्रश्न करने पर श्रावकोंने आचार्य रुघनाथजीसे संत भीखणजीके अलग होनेकीसारी बात कह सुनाई और जैन शास्त्रोंकी दृष्टिसे अपने निमित बनाए मकानोंमें उतरना साधुओंके लिए कितना दोष-पूर्ण और आचार-विरुद्ध है यह भी बताया।

बादमें दिवान साहबने पूछा: "संत भीखणजीके मतमें कितने साधु हैं और कितने श्रावक?" श्रावकोंने उत्तर देते हुए बतलाया'—'१३ साधु हैं और १३ ही श्रावक"। यह सुनकर दिवान साहब बोले: "अच्छा संयोग है—

'तेरा' (तेरह) ही साधु हैं और 'तेरा' (तेरह) ही श्रावक। सिंघीजीके पासही एक सेवक जातिका कवि खड़ा था। वह यह सब वार्तालाप बड़ी दिलचस्पीसे सुन रहा था। उसने तुरन्तही एक दोहा बना सुनाया जिसमें संत भीखणजीके मत को १३ साधु व १३ श्रावकोंके विचित्र संयोग के कारण उसने "तेरापन्थी" कहकर सम्बोधित किया।

"साध साधरो गिलो करे
ते तो आप-आपरो मत
सुणज्यो रे शहर रा लोकां
ए "तेरापन्थी" तंत"

उस सेवक कविके मुखसे 'तेरापन्थी" नामकरण सुनकर संत भीखणजीके विरोधी लोगोंने इस शब्दको मजाकके काममें लाना शुरू कर दिया और इस अल्प संख्यक मतको उड़ानेके लिये उसे "तेरापन्थी" कहकर सम्बोधित करने लगे।

सारी बात संत भीखणजीके कानोंमें भी पड़ी। कवि द्वारा आकस्मिक व्यवहृत "तेरापन्थी" शब्द उनको बड़ा अर्थ-गौरव पूर्ण मालूम दिया। उनकी अन्तर विचार-धारा की सारी अभिव्यक्ति उन्हें इसी एक शब्द में गर्भित मालूम दी। अपनी आश्चर्यकारी प्रत्युत्पन्न बुद्धिका सहारा ले उन्होंने इस शब्दकी बड़ी सुन्दर व्याख्या की और अपने मतवादके व्यक्तिकरणके लिये इसी अर्थ सूचक शब्दको सदाके लिए अपना लिया। मारवाड़ीमें १३ संख्या "तेरा" कही जाती है और 'तेरा' इस शब्दका अर्थ तुम्हारा भी होता है। इन दोनों अर्थोंको सामने रखकर संत भीखणजीने "तेरापन्थी" शब्दका अर्थ-स्पष्टीकरण इस प्रकार किया :—

"हे प्रभु ! तेरा ही पन्थ हमें पसन्द आया है इसलिये हम तेरापन्थी हैं।

तेरे पन्थमें पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति ये तेरह बातें हैं, हम इन तेरह बातोंको पूरी तरह मानते हैं और उनका पालन करते हैं, अतः तेरापन्थी हैं।

जिस मार्गमें गुणोंको स्थान है—वेषको नहीं, जिसमें जीव चेतन पदार्थ और अजीव अचेतन पदार्थ अलग-अलग माने गये हैं, जिसमें पुण्यको शुभ कर्म और पापको अशुभ कर्म माना गया है, जिसमें आश्रवको कर्म ग्रहण और संवरको कर्म निरोधका हेतु माना गया है; जिसमें निर्जराको कर्म क्षयका हेतु और बन्धको जीव और कर्मका परस्पर एकावगाह होना तथा मोक्षको सम्पूर्ण सुख माना गया है-वह तेरापन्थ है। जो व्रत और अव्रत, सावद्य और निरवद्यको अलग-अलग बतलाया हुआ, तेरी ही आज्ञाको शिरोधार्य मान कर चलता है, वह तेरापन्थ नहीं, तो किसका पन्थ है!" इस तरह संत भीखणजीने 'तेरापन्थी' शब्दका एक अनुपम अर्थ लगा दिया और उनके अनुयायी 'श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी' कहलाने लगे।

नव प्रव्रज्या और प्रथम चातुर्मास

अब तेरह ही साधु नव दीक्षा लेनेकी तैयारी करने लगे। परस्पर सैद्धान्तिक चर्चाएँ कीं। शास्त्रोंका अच्छी तरहसे मनन किया। परन्तु चतुर्मास निकट आ जानेसे कई विषयों पर पुरा विचार न हो सका। इसलिए संत भीखण जीने कहा—"चौमासा समाप्त हो जाने पर फिर चर्चा करेंगे और परस्पर श्रद्धा और आचार मिलने पर ही सम्मिलित भोजन करेंगे"। इस तरह कह संत भीखणजीने साधुओंके चौमासे निर्धारित कर दिये और आज्ञा दी-"आषाढ़ सुदी पूनमके दिन सर्व साधु नई दीक्षा लें"।

इसके बाद संत भीखणजीने मारवाड़से मेवाड़की ओर प्रस्थान किया और केलवे पधारे। वहाँ सम्वत् १८१७, मिती आषाढ़ सुदी १५ के दिन अरिहन्त भगवानको नमस्कार कर, अठारह पापोंका त्याग करते हुए सर्व सिद्धोंकी साक्षीसे नव दीक्षा ली। अन्य साधुओंने भी उनका पदानुशरण किया।

श्रीमद् आचार्य भीखणजीने केलवेमें ही प्रथम चौमासा किया। इस चौमासेमें हरनाथजी, टोकरजी और भारीमालजी ये तीन संत भीखणजीके साथ थे।

केलवेमें श्रीमद् आचार्य भीखणजीको ठहरनेके लिये शीघ्र स्थान न मिला। वहाँ 'अंधेरी ओरी' नामक एक स्थान था। उस स्थानमें हवा और प्रकाशका नाम मात्र का भी प्रवेश न था। इसलिये 'वह अंधेरी ओरी'—काली कोठरी कही जाती थी। चौमासेके लिये स्वामीजीको यही स्थान बताया गया और इसी स्थानमें स्वामीजीने चौमासा किया। यह स्थान भयानक माना जाता था; परन्तु साहसी और निर्भीक आचार्य भीखणजीके पास डर फटकता भी न था। रातमें संत भारीमालजी मात्रा परठनेके लिये बाहर निकले। उस समय एक सर्प आकर उनके पैरोंमें लिपट गया। भारीमालजी को गये हुए कुछ विलम्ब हो जानेसे आचार्य भीखणजी भी बाहर आये। संत भारीमालजी चुपचाप स्थिर खड़े हुए थे। स्वामीजीने इस तरह खड़े रहनेका कारण पूछा तो संत भारीमालजी ने जवाब दिया-"उरपर जातिका जीव पैरमें लिपटा हुआ है।" स्वामीजी सर्पको सम्बोधन कर बोले-"हे आर्य! हम लोग साधु हैं। किसीको कष्ट नहीं देते। अगर हमारे इस मकानमें ठहरनेसे तुम्हें कष्ट होता हो तो हम अन्य स्थानमें चले जांय। अन्यथा इस बालक सन्तके पैरोंमें लिपट कर क्यों परिषह दे रहे हो?" स्वामीजी के ऐसा कहते ही वह सर्प एक सपाटेसे एक लम्बी लकीर खींचता हुआ वहाँसे चला गया। स्वामीजी सोये तो उन्हें एक दृश्य दिखाई दिया और यह आवाज सुनाई पड़ी—'हे साधु पुरुष! आप लोगोंके यहाँ रहनेसे मुझे जरा भी कष्ट नहीं है। केवल मेरी खींची हुई लकीरको उल्लंघन कर कोई मात्रादि न रटें"।

इस घटनाके बाद और कोई अन्य उपसर्ग नहीं हुआ और चौमासा निर्विघ्न समाप्त हुआ।

श्रीमद् आचार्य भीखणजी की वाणी में एक अमृत-रस था। उनकी वाणी सीधी हृदय पर असर करती और कायापलट कर देती। वे हृदय परिवर्तन की नीति के हिमायती थे, और उनकी उपदेश शैली में ऐसा करने की एक अद्भुत आत्मिक शक्ति थी। सर्प को दूर करने के लिए भी उन्होंने अपने आत्मिक बल का ही सहारा लिया। 'साधु

को कष्ट नही पहुँचाना चाहिए'—इस उपदेश द्वारा उस सर्प को भी मन्त्र-मुग्ध कर दिया। आत्मिक बल द्वारा किस तरह विजय प्राप्त की जा सकती है और मनोरथ सफल किये जा सकते हैं, उसका एक नमूना है। 'अभय से ही अभय प्राप्त होता है' यह इस घटना से स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है। वास्तव में अहिंसा में हृदय परिवर्तन की अजोड़ शक्ति होती है। स्वामीजी में यह शक्ति भर पूर थी।

चौमासे के बाद तेरह संत एक जगह एकत्रित हुए। बख्तरामजी और गुलाब जी नामक दो साधुओं की मान्यता भिन्न हो गई इसलिए वे अलग कर दिये गये। वीरभाणजी कई वर्षों तक आचार्य भीखणजी के पास रहे। परन्तु वे बड़े अविनयी थे, अतः बाद में उन्हें भी दूर कर दिया गया। लिखमीचन्दजी, भारीमालजी, रूप-चन्दजी और प्रेमजी साधु भी बाद में निकल गये। इस तरह आदि के तेरह साधुओं में से केवल आचार्य भीखणजी, थिरपालजी, फतेहचन्दजी, टोकरजी, हरनाथजी और भारीमालजी ये छः सन्त जीवन-पर्यन्त एक साथ रहे।

इस प्रकार शुद्ध जीवन यापन के लिए श्रीमद् आचार्य भीखणजी ने आगे कदम बढ़ाया परन्तु सामने का मार्ग सरल न था। रास्ते में विपत्तियों के पहाड़ के पहाड़ खड़े थे। पर वे इन सब विघ्न बाधाओं से विचलित होने वाले न थे। वे एक ऐसे चट्टान की तरह दृढ़ खड़े रहे जिस पर हजारों-लाखों प्रहारों का भी कोई असर नही पड़ता। उन्हें तो केवल आत्म-साक्षात्कार की ही प्यास थी। जिन-शासन के उद्धार के लिए वे अपने प्राणों तक की होड़—बाजी लगा चुके थे। पूज्य जयाचार्य ने ठीक ही कहा है :—

भारी गुण भिक्खु तणा कह्या कठा लग जाय,
मरणधार शुद्ध मग लियो कमिय न राखी काय।

अर्थात्—"आचार्य भीखणजी के गुणों का कहाँ तक वर्णन किया जाय? उन्होंने जिन-शासन के उद्धार कार्य में कोई कमी न रखी और प्राण दे देने तक का निश्चय करके ही उन्होंने यह काम उठाया था।"

खांड़े कि धार पैनी थी, पर जीवन और मरण को पर्याय—अवस्थान्तर मात्र समझने वाले के लिए उस पर चलना जरा भी कठिन नहीं था। वे गाँवोंगाँव धर्मोपदेश देते हुए विचरने लगे। यह देख कर आचार्य रुघनाथजी के क्रोध का पारा और भी गर्म हो गया। उन्होंने लोगों को अनेक तरह से बहकाना शुरूकिया। उनके बहकावे में आकर लोग स्वामीजी को जमाली और गोशाले की उपमाएं देने लगे। कोई कहता—"ये निन्हव हैं इनकी संगत मत करना।" कोई कहता—"इनने देव गुरु धर्म को उठा दिया है। ये जीव बचाने में अठारह पाप बतलाते हैं।" इस तरह चारों ओर से कटु वचनों के प्रहार होने लगे। कोई प्रश्न करने के बहाने और कोई दर्शन करने के बहाने आकर उनको खरी-खोटी सुना जाता। परन्तु आचार्य भीखणजी क्षमा-शूर थे। वे इन प्रहारों को फूलों की बौछार की तरह झेलते। द्वेष उन्हें छूता भी नहीं। उनके भावों में अत्यन्त मधुरता रहती। समभाव पूर्ण सहनशीलता के वे ज्वलन्त उदाहरण थे।

श्रीमद् आचार्य भीखणजी के कष्टों की इतने ही तक सीमा न थी। उन्हें केवल तीर के समान तीखे वचनों को ही नहीं झेलना पड़ा, पर अन्य अनेक प्रकार के कष्ट भी उन्हें उठाने पड़े। आचार्य रुघनाथजी ने लोगों को यहाँ तक बहका दिया था कि उन्हें ठहरने के लिए कोई स्थान तक नहीं देता। वे जहाँ जाते वहाँ एक विरोध का दावानल-सा सुलगता दिखाई देता और अनोखे अनुभव होते। एक वार वे बिलोड़े पधारे। उनके पहुँचने की खबर मिलते ही वहाँ के लोगों ने बन्दोवस्त किया—"जो भीखणजी को १ रोटी देगा उसे ११ सामायिक दण्ड की आवेगी।" एक दिन किसी के घर गोचरी पधारे तो उस घरकी बाई बोली—"यदि मैं आपको रोटी दूँ तो मेरी ननद की, जो स्थानक में बैठी सामायिक कर रही है, सामायिक गल जाय—नष्ट हो जाय। इस तरह जनता में नाना प्रकार के भ्रम फैला कर आचार्य भीखणजी को विचलित करने की चेष्टा की गई। परन्तु इन विघ्न वाधाओंसे वे फौलादी पुरुष क्या घबड़ाते और क्या मार्ग च्युत होते? मेघकी

काली घटायें सूर्यको आच्छादित कर सकती हैं, पर उसकी हस्तीको नहीं मिटा सकतीं। आचार्य रुघनाथजीकी हरकतें भी मरणांतक कष्ट पहुँचा सकती थीं परन्तु आचार्य जैसे वीर पुरुषको ल्चानेकी ताकत उनमें क्या होती ?

"जो लोग सच्चे धार्मिक हैं, उनके अन्दर एक ऐसी स्थिरता होती है जो संपत् विपत्से विचलित नहीं होती। आध्यात्मिक जीवनका सार ही यह है कि आत्मा इतनी महान् है कि भयानकसे भयानक विपत्ति भी उसे डिगा नहीं सकती। जो आत्मवान् हैं वे दुनियाके ऊपर रहते हैं, दुनियाको उन्होंने जीत लिया है। उन पर गोलियाँ बरस रही हों तो भी वे सच बोल सकते हैं, उनकी बोटी-बोटी काटी जाय तो भी प्रतिशोधकी भावना उनके हृदयमें आग नहीं लगा सकती। उनकी दृष्टि विश्व व्यापिनी होती है। इससे किसी सांसारिक आशक्ति या स्वार्थमें रत होना वे मूर्खता और व्यर्थता समझते हैं। बलिदान जो कीमतका विचार नहीं करता, आत्मोत्सर्ग जो बदलेमें कोई चीज नहीं चाहता, वही उनका नित्य जीवन होता है।" आचार्य भीखणजीके सम्बन्धमें ये विचार सम्पूर्ण रूपसे लागू पड़ते हैं।

उन तूफानी दिनोंका थोड़ा सा वर्णन आचार्य भीखणजीने अपने परम शिष्य हेमराजजी स्वामीसे किया था। वह कितना हृदय-द्रावक है, यह पाठक पढ़कर ही अनुभव कर सकेंगे:

'हम लोग जब रुघनाथजीसे अलग हुए तबसे पाँच वर्ष करीब तक तो घी चुपड़े की तो बातही क्या रूखा-सूखा आहार भी पूरा नहीं मिलता था। कपड़ेका तो यह हाल था कि कभी १।) रुपयेकी कीमतकी वासती (रेजी) मिल जाती तब भारीमाल अर्ज करता कि आप इसकी पछेवड़ी बना लीजिये। मैं कहता–'इसकी पछेवड़ी नहीं, चोलपट्टे बनाओ–एक तुम्हारे लिये और एक हमारे लिये।' जो कुछ आहार-पानी मिलता उसे लेकर सब साधु जंगलमें चले जाते। वहाँ आहार तो वृक्षों की छायामें रख देते और फिर सब साधु सूर्यके कड़कड़ाते तापमें आतापना लेते। शामको वापिस गाँवमें आते। ऐसा कष्ट सहन करते और कर्म काटते।"

इस तरह नाना प्रकारके कष्ट एक दिन नहीं, दो दिन नहीं, परन्तु लगातार वर्षों तक आचार्य भीखणजी और उनके साथी साधुओंको सहने पड़े थे। परन्तु उन्होंने उनके सामने कभी मस्तक नहीं झुकाया। एक वीर व्रती की तरह विपदाओंसे लड़ते और दुषह कष्टोंको समभाव पूर्वक सहन करते, एक सच्चे साधुका जीवन बिताते जाते थे। भगवान महावीरके निम्नलिखित प्रवचन उनके जीवनके सूत्र बन चुके थे।

खुहं पिपासं दुसिज्जं, सीउण्हं अरइं भयं
अहिआसे अव्वहिओ, देह दुक्खं महाफलं

अर्थात्—"क्षुधा, तृष्णा, ताप, ठण्ड, अरूचिकर प्रसंग व भयके प्रसंगोंको मुमुक्षु पुरुष अव्याकुल चित्तसे सहन करता है और जानता है कि धर्मके लिये देह दुःख महान् फलका हेतु होता है।"

अह णं वयमावन्नं, फासा उच्चावया फुसे
न तेसु विणिहण्णेज्जा, वाएण व महागिरी

अर्थात्—"जिस तरह महागिरि वायुके झोकेसे डोलायमान नहीं होता, उसी तरह व्रतधारी पुरुष सम-विषम, अनुकूल-प्रतिकूल परिषहों—कष्टों के पड़ने पर धर्म च्युत नहीं होता।"

जे उ संगाम कालंमि नाया सुरपुंगया
णो ते पिट्ठमुवेहिंति, किं परं मरणं सिया

अर्थात्—"जो विख्यात सुर-पुंगव होते हैं वे संग्रामके समय भविष्यकी चिंता नहीं करते। वे समझते हैं कि मरणसे भिन्न दूसरा क्या हो सकता है ?

प्रचार कार्य -

—मौन साधक—

श्रमण भगवान महावीरने सच्चे धर्म पर श्रद्धा होना महा दुर्लभ बतलाया है। वर्षोंसे आते हुए संस्कार और विचार-धारा को हटा नवीन और शुद्ध विचार धाराको जनताके जीवनमें उतारना कोई सरल कार्य नहीं होता और खास कर उस समयमें जब कि लोगोंमें हद दर्जेकी जड़ता जड़ जमाए हुए हो और विचार शीलताके स्थानमें केवल अंधभक्ति और स्थितिपालकता ही काम कर रही हो। आचार्य भीखणजीका जमाना ऐसा ही था। उस समयके लोगोंकी अन्ध-श्रद्धा, दाम्भिकता और ज्ञानहीनता को देख कर आचार्य भीखणजीने विचार किया: "लोग जैन-धर्म से कोसों दूर पड़े हैं। जैन आचार और विचारका पूर्ण अभाव है। अधिकांश लोग गतानुगतिक हैं और सत्यासत्यका निर्णय अपनी विवेक बुद्धिसे न कर अर्सेसे चली आती विचार परम्परासे करते हैं। मूल जैन संस्कृति और आचार-विचारको भूला बैठे हैं। ऐसी हालतमें धर्म-प्रचारका कोई रास्ता नहीं दिखाई देता और उसके लिए परिश्रम करना केवल समय गमाना है। इस कठिन मार्गमें साधु-साध्वी या श्रावक-श्राविकाओं का होना मुश्किल है। अतः धर्म प्रचारकी ओर ध्यान न देकर आत्मोन्नति में ही संतोष करना चाहिये।" ऐसा विचार कर वे सर्वतोभाव आत्म—कल्याणमें लग गये। जन-कल्याणसे दृष्टि हटा स्व-कल्याणको ही अपनी साधना का केन्द्र बना लिया और उस आत्म-साधना में वे कितने उत्कट रूपसे लगे इसका वर्णन कुछ ऊपरमें आया है। उन्होंने संतों के साथ एकान्तर उपवास करना शुरू किया और चौविहार उपवासमें कड़ी धूपमें आतापना लेते। यह लोमहर्षक तपस्या दीर्घ काल तक चली। आचार्य

भीखणजीने एकबार हेम ऋषिसे कहा था: "हम कब जानते थे कि हमारे सिद्धान्तों को लोग स्वीकार करेंगे, साधु बनेंगे या श्रावक-श्राविकाएँ होंगी। हम लोगोंने तो सिर्फ अपने ही आत्म-कल्याणकी विचारी थी। उसी प्रकार तपस्या करते-करते जीवन यात्रा समाप्त करनेकी आशा थी।"

इस कठोर तपश्चर्यासे साधुओंके शरीर अस्थिपंजर हो गए। परन्तु जीवन-शुद्धिका यह यज्ञ परोक्ष रूपसे जीवनकी अमरता-बेलीको हरा-भरा कर रहा था। आचार्य भीखणजी और संतोंकी यह कंपित करनेवाली तपस्या मानो वही दुर्जय युद्ध था, जिसका वर्णन उत्तराध्ययन सूत्रकी निम्न गाथामें किया गया है :

जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ॥
अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ।
अप्पाणमेव अप्पाणं जइत्ता सुहमेहए॥

आचार्य भीखणजी की इस लोमहर्षक तपस्याका प्रभाव धीरे-धीरे जनता पर पड़ता जाता था। अब लोगोंने समझा कि जो शुद्ध जीवन-यापनके लिए अपने प्राणों तक को अपनी हथेलीमें रखता है, वह एक कितना बड़ा त्यागी और महान् पुरुष है। आचार्य भीखणजीकी निर्भीक दृढ़ता, उनका असीम त्यागभाव और उग्र तपस्या लोगों को सहानुभूति उनकी ओर खींचने लगी। भोजन और पानी की कठिनाइयाँ उपस्थित कर जो आचार्य भीखणजीको डिगाना चाहते थे उनको उन्होंने यह पदार्थ-पाठ सिखाया कि भूख और प्यास की कठिनाइयोंसे वे डिगने वाले नहीं हैं। इनकी वे जरा भी परवाह नहीं करते। खाने-पीनेकी चीजों का तो वे और उनके साधु स्वेच्छा पूर्वक त्याग कर सकते हैं। उनका जीवन खाने-पीने के सुखके लिये नहीं है, परन्तु संयमी जीवनकी कठिनाइयोंको सहनेके लिये है। आचार्य भीखणजीको इस तपस्यासे लोगोंमें श्रद्धा जागी। लोगोंने सोचा कम से कम उनकी बात तो सुननी चाहिये। इस विचारसे लोग उनके पास जाने लगे। जो

पूछते उन्हें आचार्य भीखणजी जैन सिद्धान्तका वास्तविक स्वरूप बतलाते। आज्ञा किसमें है और अनाज्ञा किसमें है, व्रत क्या है और अव्रत क्या है, इसका विश्लेषण करते। लोग उनके सिद्धान्तमें सत्य बात देख कर प्रभावित होते, पर पकड़ी हुई बातको छोड़ नहीं सकते। इस तरह कुछ विचार शील व्यक्तियोंने आचार्य भीखणजीके वचनामृत से शुद्ध श्रद्धाको प्राप्त कर धर्मके सच्चे स्वरूपको पहचाना। हम ऊपर ही कह आये हैं कि आचार्य महाराजका ध्येय कुछ और ही हो चुका था और इसी कारण से वे लोगों पर जी लगा कर परिश्रम भी नहीं करते थे।

—उपदेशक आचार्य—

शाक्य मुनि गौतम बुद्ध को बोधि प्राप्त हुई तो उन्हें लगा कि जगत् के सुखैशी लोक उनके मार्ग को नहीं सुनेंगे और उसका अनुसरण नहीं करेंगे। अतः एकान्त में मौन धारण कर रहना ही उचित होगा। उस समय ब्रह्मदेव उनके समक्ष उपस्थित हो, हाथ जोड़कर बोले—"हे बुद्ध गुरु! अपने अमृत तुल्य धर्म का लोकों को उपदेश दें। इस जगत् में ऐसे अनेक जीव हैं, जिनके ज्ञान पर अज्ञान का पड़दा नहीं पड़ा है। केवल आपके धर्म वाक्य कान में न पड़ने से उन्हें भारी हानि हो रही है। यदि आप उपदेश करेंगे तो उसके रहस्य को जानने वाले अनेक लोग इस जगत् में मिलेंगे। पर्वत शिखर पर रह कर जैसे नीचे प्रदेश में लोक की तरफ देखते हैं, उसी तरह प्रज्ञा के शिखर पर चढ़ आप इस जन्म-जरा आदिक दुःख से पीड़ित लोगों की तरफ निर्भय रूप से दृष्टि-पात करें। हे शूरवीर! मार के साथ युद्ध कर आपने विजय प्राप्त की! हे लोक नायक! आप सर्व ऋण से मुक्त हुए हैं। अब लोक में फिर-फिर कर आप अपने धर्म का प्रचार करें। आपके धर्म को समझने वाले अनेक लोक आपको मिलेंगे।"

श्रीमद् आचार्य भीखणजी के जीवन में भी ऐसी ही घटना घटी, जिसने उनके जीवन के रुख को बदल दिया और उन्हें मौन-साधक से उपदेशक आचार्य

बना दिया। बुद्ध की तरह वे भी मार पर विजय प्राप्त कर चुके थे। आत्मा की सर्व हल्की प्रवृत्तियों पर उन्होंने विजय प्राप्त कर ली थी और उनके मनमें जरा भी विषय-वासना न थी। बुद्ध के सामने एक ब्रह्मदेव उपस्थित हुए, परन्तु उस समय श्रीमद् आचार्य भीखणजी के उपदेश की इतनी अधिक जरूरत थी कि उनके सामने दो-दो ब्रह्मदेव उपस्थित हुए। बुद्ध के ब्रह्मदेव आकाश से उतर कर आये परन्तु संत भीखणजी के ब्रह्मदेव तो उनके पास ही थे। वे थे—साधु थिरपालजी और फतेहचन्दजी। ये दोनों ही पिता-पुत्र थे। दोनों ही बड़े तपस्वी, भद्र, विचार शील और सरल प्रवृति के थे। आचार्य भीखणजी के प्रति अगाध श्रद्धा उनके हृदय में हिलोरें लेती थीं। जब उन्हें कोई प्रश्न करता तो सीधा कहते हैं—"भीखणजी से पूछें, जो वे कहें वही ठीक है।" उन्हें अभिमान तो छू तक नहीं गया था। जब कोई पूछता कि आप किस टोले के हैं तो वृद्ध होने पर भी निसंकोच सीधा उत्तर देते—"हम आचार्य भीखणजीके टोले के हैं।" एक बार दोनों संत कोटे पधारे। वहाँ पहुँचते ही उन्हें मालूम हुआ कि कोटा नरेश दर्शन के लिए वहाँ आ रहे हैं। जब इन साधुओं को यह बात मालूम हुई तो उसी समय वहाँ से विहार कर दिया! बोले—"हममें क्या विशेषता है? आचार्य भीखणजी के दर्शन करें।" आचार्य रुघनाथजी के सम्प्रदाय में थिरपालजी और फतेहचन्दजी दोनों ही संत भीखणजी से दीक्षा-पर्याय में बड़े थे। अतः नई दीक्षा के बाद आचार्य हो जाने पर भी दीक्षा में इन दोनों संतों को ही अपने से बड़ा रक्खा। इस तरह उनका बहुमान कर आचार्य भीखणजी ने अपने उच्च मानस का परिचय दिया और वृद्ध संतों के प्रति आदर बुद्धि का एक जीता-जागता उदाहरण छोड़ दिया।

जिन-मार्ग के उद्धार का कोई रास्ता न देख जब आचार्य भीखणजी ने कुछ निराश हो एकांत आत्म-चिन्तन और घोर तपस्या के मार्ग को अपनाया तो इन संतों के मनमें भी ब्रह्मदेव के से ही विचार आये। वे दोनों हाथ जोड़ कर विनय

पूर्वक निवेदन करने लगे : "आप तपस्या द्वारा अपने शरीर को इस तरह क्षीण न करें। तपस्या के लिए तो हम बहुत हैं। आपके हाथों बहुत लोगों का कल्याण होना बधा है। आपकी उत्पाद् बुद्धि बड़ी विचक्षण है। आपमें समझाने की बड़ी कला है। अपने कल्याण के साथ आप दूसरों के कल्याण का भी पूरा सामर्थ्य रखते हैं। आप को तपस्या छोड़, जनता में धर्म प्रचार करने का प्रयत्न कर जिन-शासन का उद्धार करना चाहिए।" सरल हृदय से निकली हुई यह अन्तर पुकार आचार्य भीखणजी के हृदय पर असर कर गई। वयोवृद्ध साधुओंकी सत् परामर्श को स्वीकार कर आचार्य भीखणजी सिद्धान्त-प्रचार के कार्य पर भी विशेष ध्यान देने लगे। उनके धर्म प्रचार और धर्मोद्धारक जीवन का सूत्र पात यहीं से समझना चाहिए। साधु थिरपालजी और फतेहचन्दजी ने आचार्य भीखणजी को जो प्रेरणा दी वह कोई अलौकिक प्रेरणा थी जो उनके ब्रह्म से निकली होगी। इस प्रेरणा को देकर उन्होंने जगत् का जो हित साधा वह सुवर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है।

अब स्वामीजी धर्म-प्रचार के लिए अथाह परिश्रम करने लगे। सूर्य की रश्मियाँ जैसे अन्धकार को दूर करती हैं उसी तरह वे जनता की मूढ़ता और भ्रांतियों को भगा, सच्चे जैन धर्म का प्रकाश करने लगे। सूत्रीय प्रमाण–पुरस्सर सिद्धान्त विषयक ढ़ालें लिख-लिख कर वे जनता को समझाने लगे।

उन्होंने दान और दया पर तर्काबाधित और प्रमाण पुरस्सर सुन्दर ढालें लिखीं। व्रत–अव्रतके रहस्यको समझाया। नव तत्त्वों पर एक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी। श्रावकके व्रतों पर नया प्रकाश डाला। ब्रह्मचर्य के विषय पर महत्व-पूर्ण ढालोंकी रचना की। इस प्रकार उन्होंने जनताके सामने अपनी सारी विचार धारा उपस्थित कर दी। साधु आचार पर ढालें रचकर शिथिलाचार को हटानेका प्रयत्न किया। अपने तथा अपने साधुओंमें सच्चे जैनत्व को उतार कर जनताके सम्मुख सच्चे जैन साधुत्वका मूर्तिमान स्वरूप उपस्थित कर दिया।

—चतुर्विध-संघ—

आचार्य भीखणजीके इस तरह अथक परिश्रम से धीरे-धीरे उनके सिद्धान्तोंका प्रचार होने लगा। साधु, श्रावक और श्राविकाओं की संख्या बढ़ने लगी। पर कई वर्षों तक संघमें साध्वियाँ न हुईं। इस पर किसीने आक्षेप करते हुए कहाः– "स्वामीजी! आपके केवल तीन ही तीर्थ हैं–साधु, श्रावक और श्राविका। साध्वियाँ न होनेसे आपका यह तीर्थ रूपी मोदक खांडा– अपूर्ण ही है"। स्वामीजीने उत्तर दियाः "मोदक खांडा भले ही हो पर है वह चौगुनी चीनीका। अतः स्वादमें अनुपम है"। यह उत्तर देकर स्वामीजीने बतला दिया कि मोदक चाहे पूरा हो पर अगर चीनी उसमें न रहे तो वह स्वाद रहित होगा। उसी तरह संघ में साधु, साध्वो, श्रावक श्राविका चारों ही हों पर सच्चे चारित्रका अभाव हो तो वह संघ नाम मात्रका ही संघ होगा। संघ चतुर्विध न होने पर भी यदि उसमें गुणी, चारित्रवान आत्मायें हैं, तो वह ही वास्तवमें सच्चा संघ है।

इसके थोड़े दिन बाद हो आचार्य भीखणजीके संघमें तीन साध्वियाँ भी हो गईं उनकी प्रव्रज्याकी कथा बड़ी ओज पूर्ण है।

एक ही साथ तीन महिलायें आचार्य महाराज से दीक्षा का अनुनय करने लगीं। जैनसूत्रोंके अनुसार कम से कम तीन साध्वियाँ एक साथ रहनी आवश्यक हैं। आचार्य महाराज ने विचार कियाः "यदि प्रव्रज्या लेनेके पश्चात् इनमेंसे यदि एकका भी किसी कारणसे वियोग हुआ तो एक कठिन परिस्थिति उत्पन्न हो जायेगी। उस अवस्था में बाकी दो साध्वियोंके लिये सलेषणा करनेके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह जायेगा। अतः इस आगेकी बातको सोच समझ कर ही कार्य करना चाहिये।" यह विचार कर उन्होंने सारी बात दीक्षार्थी बाइयोंके सम्मुख रख दी और दीक्षा लेनेके पूर्व इस बात पर गम्भीरता पूर्वक विचार कर लेनेको कहा। तीनों ही बाइयों ने इस बात पर विचार कर जवाब दिया–"अगर हममें से किसीका भी वियोग हुआ तो शेष संलेषणा कर शरीर विसर्जन करनेके लिये प्रस्तुत हैं।" आचार्य महाराजको

उनके वैराग्य पर तो पहले से ही विश्वास था। अब उनकी दृढ़ता की भी जाँच कर ली। बाइयोंके वीरोचित उत्तरसे आचार्य महाराज प्रसन्न हुए। योग्य समझ दीक्षा दी। इन साध्वियोंके नाम श्री कुशलाँजी, मटुजी और अजबुजी थे।

इस तरह अपने संघमें कमजोरीको जरा-सा भी स्थान न पाने देते हुए और शिथिलाचारको बिलकुल दूर करते हुए आचार्य भीखणजी निरन्तर जागरुकता और परम विवेकके साथ अपने मार्गको अग्रसर करते जा रहे थे। माता दीपाँबाईके ये ओजस्वी पुत्र एक केशरी सिंहके से प्रबल पुरुषार्थका परिचय देते हुए जिन-शासन को दिनों-दिन उद्दीप्त करते जा रहे थे। साधु-साध्वियोंकी संख्या खूब बढ़े, इसकी ओर उनका जरा भी ध्यान न था। वे तो केवल यह चाहते थे कि साधु-साध्वियाँ चाहे कम ही हों पर जो हों वे चौगुनी चीनीके हों—अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपमय जीवन का ज्वलन्त उदाहरण जनता के सामने उपस्थित कर सकें और मौका आवे तो जिन-शासनके उद्धार कार्यमें अपने प्राणोंको न्यौछावर करने में भी कोई मोह न रखें—ऐसे हों। स्वामीजी वीर भगवान के प्रवचनोंको ही अपने जीवनका दिशा-यन्त्र बना चुके थे। उनका एक भी क्रिया-कलाप ऐसा न होता जो इस दिशा-यन्त्रसे निर्दिष्ट न हो। उनका विवेक हद दर्जेका था। उनके प्रत्येक कार्य में चकित करनेवाली दूरदर्शिता होती। वे बड़े अग्रसोची थे और उनकी हार्दिक कामना थी कि वे जिन-शासन रूपी वृक्ष को इतना गहरा सींच सकें और उसकी जड़ पातालमें रोप सकें जिससे कि वह सतत् आँधी और तूफानके झोकों को भी अडिगता पूर्वक सह सके। उनकी आत्मा ऐसे ही भावों से ओत-प्रोत थी और इसी कारणसे वे एक बहुत उच्च जैन साधु जीवनका आदर्श युग-युग के लिये छोड़ सके और यही कारण है कि आज उनका वह संघ एक नन्दनवन की तरह लहलहाकर शोभा पा रहा है। वास्तवमें ही आचार्य भीखणजी जिन-शासनके भौमिया पुरुष थे। धीरे-धीरे उनका यश दिग्दिगन्त में फैल गया और इसके साथ ही साथ श्रावक श्राविकाओं की संख्या भी बढ़ने लगी।

महा प्रस्थान

—अदृष्टका आभास और अन्तिम उपदेश—

सं० १८५९ की सालमें स्वामीजीने पालीमें चातुर्मास किया। वहाँसे विहार कर चाणोदसे पीपाड़ तक के गाँवोंको अपने चरणोंसे पवित्र करते हुए स्वामीजी सोजत पहुँचे। वहाँ बाजारमें छत्रियोंमें ठहरे। चातुर्मासकी समाप्ति पर भिन्न २ स्थानोंसे विहार कर संत स्वामीजी के दर्शन के लिये सोजत पधारे। स्वामीजी ने यहाँ संतोंके आगामी चौमासे फरमाए। हुक्मचन्द नामक एक श्रावकने स्वामीजीको शिरियारीमें चौमासा करनेकी अर्ज की। स्वामीजीने अर्ज मंजूर की। स्वामीजीने (१) भारीमालजी, (२) खेतसीजी, (३) उदैरामजी, (४) ऋषि रायचन्दजी, (५) जीवोजी और (६) भगजी इन छः संतोंको साथमें रक्खा। स्वामीजी आदि ये सप्त ऋषि कँटालिया और बगड़ी होते हुए शिरियारी पधारे। स्वामीजी का यह सं० १८६० का चातुर्मास ही अन्तिम चातुर्मास था। इसी सालकी भाद्र शुक्ला त्रयोदशी को स्वामीजीका देहान्त हुआ। अन्त समय तक स्वामीजीके हद दर्जे की आत्म-जागरुकता और आत्म-समाधि रही। यों तो उनकी भावनाएँ सदा ही निर्मल रहती थीं, परन्तु अन्त समयमें उनकी निर्मलता और उच्चता परम दर्शनकी वस्तु थी। उन्होंने मृत्युको बड़ी प्रसन्नता पूर्वक झेला था। अन्तिम समयकी उनकी निर्भीकता, दृढ़ता, आत्म-जागृति और सहजानन्द को देखते हुए उन्हें मृत्युञ्जय कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। वे एक वीरकी तरह जीये और उनकी मृत्यु भी वीर-रस से परिपूर्ण थी।

स्वामीजी शिरियारीमें पधारे, उस समय तक उनके शरीरमें कोई रोग नहीं था। वृद्ध हो चुकने पर भी उनकी सारी इन्द्रियाँ बलवान और कार्यकारी थीं।

उन्हें स्थिरवास करनेकी जरूरत नहीं हुई। उनका उपयोग बड़ा तीव्र था। उनकी चाल वृद्धावस्थामें भी तेज थी। वे बड़ा परिश्रम किया करते थे. यहाँ तक कि रोज स्वयं गोचरी पधारा करते और शिष्योंको लिख-लिख कर स्वयं 'आवश्यक सूत्र' का अर्थ बताया करते। उस समय तक वे धार्मिक चर्चामें विशेष रस लेते थे।

श्रावण सुदी १५ के बाद से स्वामीजीको साधारण दस्तकी शिकायत रहने लगी। दवा-सेवन से कोई लाभ नहीं हुआ। पर्युषण पर्व के दिन आए। बीमारी की हालतमें भी वे तीनों वक्त—सुबह, मध्याह्न और रात्रिमें धार्मिक उपदेश और व्याख्यान दिया करते, खुद गोचरी जाते और शौच भी बाहर जाना जारी रक्खा। बीमारी कोई खतरनाक नहीं दिखती थी और न किसीने इसे भयानक समझा। भाद्र शुक्ला ४ की बात है। स्वामीजीको ऐसा लगा जैसे उनका शरीर ढीला पड़ गया हो। उन्हें अपनी आयु नजदीक मालूम देने लगी। उन्होंने खेतसीजी से कहा :— "तुम, भारीमाल और टोकरजी बड़े सुविनीत शिष्य हो। तुम लोगोंने मेरी बड़ी भक्ति की। तुम लोगोंके कारणसे मुझे बड़ी समाधि रही और शांत चित्त से संयम पालन करनेमें बड़ा सहारा रहा।" इस प्रकार अपने गुणवान शिष्यों की प्रशंसा कर स्वामीजीने श्रावक, श्राविकाओं के सामने ही ऋषि भारीमालजी आदि संतोंको बड़ा मार्मिक उपदेश दिया, जिसका सार इस प्रकार है :

"१—जिस तरह तुम लोग मुझे बहुमान देते रहे और मेरे प्रति तुम लोगों की प्रतीति थी, वैसे ही ऋषि भारीमालके प्रति रखना।

२—शिष्य भारीमाल सर्व सन्त सतियोंका नाथ है, उसको आचार्य मान सब कोई उसकी आज्ञा की आराधना करना। उसकी आज्ञा या मर्यादाका भङ्ग मत करना।

३—ऋषि भारीमालकी आज्ञाको लोपकर—उल्लंघन कर, जो गण बाहर होजाय उसे साधु मत समझना; जो उसकी आज्ञाको शिरोधार्य करे और उसके प्रति सदा सुविनीत रहे, उसकी सेवा करना। यह जिन-मार्ग की रीति है।

४—ऋषि भारीमालको भार-लायक समझ कर ही आचार्य पदवी दी है और गण का भार सौंपा है। इसकी प्रकृति बड़ी भद्र, शुद्ध और निर्मल है। उसमें शुद्ध साधुकी चाल है और वह शुद्ध संयम पालनका कामी है। इसमें शंका को कोई स्थान नहीं है।

५—शुद्ध—सदाचारी साधुओं की सेवा करना; अनाचारियोंसे दूर रहना; जो कर्म-संयोगसे अरिहन्त भगवान और गुरु-आज्ञा का लोप करें—उन अपछन्दों—स्वेच्छाचारियोंको वन्दना योग्य मत समझना।

६—भगवानकी आज्ञाको लोप कर चलनेवालों—उसन्नों, पासत्थों, कुशीलियों, प्रमादी और अपछंदोंकी संगति मत करना। जिन भगवानने उपासकदशाङ्ग में इनकी संगतिका निषेध किया है। आनन्द श्रावक के अभिग्रह के परमार्थको समझ कर इस बातका पालन करना। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाएँ सबको इनकी सङ्गतिसे दूर रहना चाहिये। जिन भगवानकी आज्ञाके पालन से परम सुख मिलता है और संसारका अन्त होता है।

७—सन्त-सती, सब परस्परमें विशेष प्रीति-भाव रखना। एक दूसरेके प्रति राग-द्वेष मत करना और न कभी दलबन्दी करना। आज्ञा लोप कर दलबन्दी करनेवाला अविनयी एकलविहारीसे भी बुरा है।

८—दिल देख-देख कर दीक्षा देना और ऐरे-गैरे हर किसीको मत मूँडना।

९—सूत्रकी कोई बात समझमें न आये तो उसे लेकर खींचातान मत करना, मनमें सन्तोष और धैर्य रखकर उसे केवलियोंको झोला देना—उन पर छोड़ देना।

१०—किसी बोल (बात) की स्थापना गुरुकी आज्ञा बिना स्वच्छन्द मतसे नहीं करना।

११—एक, दो, तीन,—कितने ही गणसे क्यों न निकल जाँय, उनकी परवाह न करना। उन्हें साधु मत समझना और शुद्धतासे साधु-आचारका पालन करते जाना।

१२—सब एक गुरुकी आज्ञा में चलना; इस परम्परा मर्यादा—रीतिको सदा निभाना। आगे जो लिखत हैं, उन्हें बराबर पालन करना।

१३—कोई साधु दोष-सेवन कर झूठ बोले और प्रायश्चित न ले तो उसे गणसे दूर-बहिष्कृत कर देना।" *

---

* स्वामीजीका उपरोक्त उपदेश, कई विचारक बन्धुओं का कहना है कि विचार-स्वातन्त्र्य का गला घोंटता है। स्वामीजीके उपरोक्त बोध में से नं० २, ३ और ९ को ही उद्धृत कर उस पर टिप्पणी करते हुए 'ओसवाल नवयुवक' के विद्वान सम्पादक श्री भँवरमलजी सिंघी ने इसी मासिक पत्रके ९ वें वर्षके ८ वें अङ्कमें लिखा था :

"यदि उक्त आचार्य के इन उपदेशोंको ध्यानमें रखकर हम उनके सम्प्रदाय-विच्छेद के कार्यको देखें तो वे स्वयं अपने उपदेशोंसे गुरुकी आज्ञाको उलङ्घन करनेवाले अविनयी सिद्ध होते हैं। उन्होंने ही अपनी शङ्का को खींचातान के बदले क्यों नहीं केवलीको सौंप दिया ? लेकिन नहीं, जड़ता तो सम्प्रदायिकताके साथ रहनेवाला अनिवार्य पाप है। वास्तवमें जो उक्त आचार्य ने किया वह उनकी आत्माके बलका परिचायक था, पर जो उपदेश दिया वह निर्बलता, साम्प्रदायिकता और जिन-मार्ग विपरीतता थी। जिस भी आचार्य ने ऐसा किया है और लगभग सभी सम्प्रदायाचार्यों ने ऐसा किया है—वे सभी दोष के भागी हैं।"

परन्तु गम्भीरता पूर्वक देखने से पता चलेगा कि उपरोक्त उद्गार विशेष सोच-विचार कर प्रकट नहीं किए गए हैं, उनके पीछे जैन-धर्मके आचार-विचार सम्बन्धी गहरा अज्ञान रहा हुआ है। जैन शास्त्रोंमें जगह—जगह गुरुके विनय करनेकी बात आई है। "जिस तरह अग्निहोत्री ब्राह्मण अग्निकी शुश्रूषा करनेमें सावधान रहता है, उसी तरह शिष्यको अपने गुरुकी सेवा करनेके

स्वामीजीकी यह चरम सीख—अन्तिम हित-शिक्षा थी। इसमें उनके जोवन भरके अनुभव का सार है। अकस्मात् इस मार्मिक उपदेशको सुनकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। सन्तों के पूछने पर कि उनको क्या तकलीफ है, स्वामीजो बोले: "कोई तकलीफ नहीं। मेरा शरीर अब ढीला पड़ चुका है, मुझे परभव नजदीक दिखलाई दे रहा है--इसलिये यह सीख--अन्तिम शिक्षा दी है। मुझे मृत्युसे जरा भी भय नहीं

लिये सावधान रहना चाहिये। शिष्य गुरुकी आज्ञा अनुसार कार्य करे और गुरु का अपमान नहीं करे।" इस तरहके वाक्य जैन शास्त्रोंमें जगह-जगह आये हैं,, परन्तु इन वाक्योंका उद्देश्य कुगुरुओंका विनय करते रहना चाहिये--यह नहीं है। उसी प्रकार स्वामीजी के वचनोंसे यह अर्थ नहीं निकालना चाहिये कि स्वामीजी ने उस विचार स्वतन्त्रताका गला घोंटा था जो स्वतंत्रता भ्रष्टाचारी गुरुके प्रति बलवा करनेके लिये प्रेरित करे। स्वामीजीने एक आदर्श साधु संस्थाको खड़ा किया था। भारीमालजोमें शुद्ध साधुकी चाल तथा आचार पालनकी नीति देखी थी, इसलिये उन्हें पूज्य मान कर उनकी आज्ञामें चलने का उपदेश दिया था–यह स्वामीजी के उन उपदेश वाक्योंसे प्रगट हैं, जो कि उद्धरणमें छोड़ दिये गए हैं और जिन पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया है। अपने उपदेशमें उन्होंने यह भी कहा था—"जो साधु लिये व्रतोंका पालन न करे— दोषका सेवन करे और मालूम पड़ जाने पर भी उसका यथोचित प्रायश्चित न ले तो बिना किसी प्रकार की खातिर करे उसे गण बाहर कर देना। स्वामीजीने ऋषि भारमालजीके लिये अलग नियम रख दिया था, यह कहीं नहीं मिलता। उनमें कोई दोष दिखाई दे तो भी अपेक्षा करते जानेका उन्होंने साधुओं को उपदेश नहीं दिया था। उन्होंने जगह-जगह कहा है: "जैन धर्ममें गुणोंकी पूजा है, वे मार्ग दूसरे हैं जो निर्गुणोंकी पूजा करते हैं। सोनेकी छुरी सुन्दर होने पर भी उसे कोई पेटमें नहीं मारता। उसी प्रकार कुल-परम्परागत गुरु भी यदि भ्रष्टाचारी हो और

है। मेरे हृदय में परमानन्द है। तुमलोगोंके सहयोगसे मुझे अपूर्व समाधि रही है। मैंने अनेक मुमुक्षु जीवोंके हृदयमें अमोल समकित रूपी बीज रोपा है। अनेकोंको मैंने बारह व्रत ग्रहण कराए हैं तथा अनेकोंको साधु प्रव्रज्यामें दीक्षित किया है। मैंने सूत्र और न्याय के अनुसार अनेक ढालें रची हैं। अब मेरे मनमें कोई बात नहीं रही।" यह कहकर स्वामीजीने फिर उपदेश दिया: "तुम लोगोंसे मेरा यही कहना है कि

कुगतिको पहुंचानेवाला हो तो वह पूजनीय नहीं है।" स्वामीजीके ये वाक्य भी सबके लिये थे। अपने सम्प्रदायके, बादमें होने वाले, आचार्यों के सम्बन्धमें उन्होंने दूसरा नियम नहीं किया था। उनके सम्बन्धमें कोई छूट नहीं रखी थी। फिर उपरोक्त उद्गारोंको प्रगट करनेकी कोई भित्ति नहीं है। भावावेशमें आकर लेखकने एक बहुत बड़ा अन्याय कर डाला है। स्वामीजीने यह भी उपदेश दिया था कि दिल देख-देख कर दीक्षा देना, हर किसीको मत मुण्ड लेना। इसमें गुणों को प्रथम देखनेकी हिदायत की है, फिर वह कौनसी स्वतन्त्रता है जिसका स्वामीजी ने गला घोंटा था और जिसको लेकर यहां तक लिख दिया गया कि स्वामीजी का यह उपदेश जिन-मार्ग विपरीतता थी? दसवैकालिक सूत्र में लिखा है: "आदर्श साधु असंयमियों की सेवा नहीं करता, उनका अभिवादन नहीं करता, उनको वंदन-नमस्कार नहीं करता, परन्तु वह असंयमी के संगसे मुक्त हो ऐसे आदर्श साधुओंके संघमें रहता है जिसमें कि उसके चारित्र की हानि न हो।" उपरोक्त उपदेश को देते समय स्वामीजी के सामने कठिन संयमी भगवान महावीर के उपरोक्त तथा सूत्रों में जगह-जगह आये ऐसे ही अन्य प्रवचन रहे होंगे। इन उपदेशों में एक बहुत बड़ा परमार्थ था। स्वामीजी अपने गण को आपात पवित्र समझते थे। शुद्ध 'जिन-शासन मूल रूप में चलता रहे, उसमें विकार न आय, इस दृष्टिसे ही उन्होंने उपरोक्त नियम किये थे। कोई भावावेश में आकर, उनमें गहरी साम्प्रदायिकता का भले ही दर्शन करे परन्तु वे केवल एक मात्र

स्थिर चित्त रखकर भगवानके मार्ग का अनुसरण करना, कुमति और कदाग्रह को दूर छोड़कर सदा आत्माको उज्ज्वल—निर्मल करना, शुद्धाचारकी आराधनामें बाल भर भी मत चूकना, पाँच समिति, तीन गुप्ति और पाँच महाव्रत का पूर्ण सावधानीके साथ पालन करना, शिष्य-शिष्याओं तथा वस्त्र आदि वस्तुओं पर जरा भी मूर्च्छा भाव मत रखना, प्रमादको सदा दूर करना, संयममें शुद्ध मनसे अनुरक्त रहना और पौद्गलिक आसक्तियोंको तन-मन से दूर करना।

स्वामीजीका यह अन्तिम उपदेश कितना अनुपम है। वह आज भी स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है। स्वामीजीने यह जो अन्तिम अमृत घूँट पिलाई, वह आज भी समूचे संघको तरुण बनाए हुए है। संघ-संचालनके कार्यमें, यह अन्तिम दिशा-निर्देश बड़ा ही उपयोगी और महत्वका सिद्ध हुआ है। स्वामीजी बड़े ही ज्ञानी, दूरदर्शी और विचक्षण पुरुष थे। इसीसे शासन एवं गणके हितके लिये वे ऐसा

इसी उद्देश्य से दिये गए थे कि भगवान का शासन जयवन्ता रहे वह दिन-दिन प्रगति करता जाय ; गुणों की पूजा हो; निर्गुणों का सत्कार न हो। केवली को सौंप देने की बात भी व्यर्थ के वितण्डावाद को कम करने के गम्भीर हेतु से कही गई थी। स्वामीजी खुद ने सूत्रों के ऐसे बोलों को केवली पर छोड़ा था जिनका आशय स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आता था। इसका आशय यह न था कि आचार-विचार में शिथिलता आ जाय और सूत्रोंके वचनों से यह प्रगट हो कि वास्तव में शिथिलाचार का सेवन किया जा रहा है तो भी अपनी शंकाओं को केवली को सौंप देना ! स्वामीजी की पंक्तियों का ऐसा अर्थ करना तो अनर्थ करना होगा, बुद्धि को ताक पर रखना होगा। उसका अर्थ तो साफ और सीधा है और वह इतना ही है कि कोई ऐसा बोल हो जिसका अर्थ समझ में नहीं आता हो तो उसको लेकर खींचातान नहीं करनी चाहिए—व्यर्थ शब्दों के झगड़ों में न पड़ उसे केवली गम्य समझ कर सन्तोष करना चाहिए।

अमोलक उपदेश दे सके।

इस उपदेशके बाद स्वामीजीने ऋषि रायचन्दजी को सम्बोधित कर कहा—"ब्रह्मचारी ! तुम बुद्धिमान बालक हो, मोह मत करना।" ऋषिने जवाब दिया: "आप तो अपने मनुष्य जन्मको सार्थक कर रहे हैं, फिर मैं मोह क्यों करने लगा ?"

ऋषि भारीमालजी पासमें ही बैठे हुए थे। वे स्वामीजी से बोले: "आपके पास रहनेसे मनमें हमेशा हिम्मत रहती थी। अब विरहके दिन आ रहे हैं। यह सहन करना कितना कठिन है—यह भगवान ही जानते हैं।" स्वामीजी बोलेः "तुम निर्मल चित्तसे निर्दोष संयमका पालन कर मनुष्य-भवको सार्थक कर, देव बनोगे।"

—आत्म-निरीक्षण और आत्म-शोधन—

इसके बाद में स्वामीजीने तीव्र आत्म-आलोचना की तथा जान-अजानमें कोई पाप हुआ हो तो उसके लिये "मिच्छा मि दुक्कडं" किया। चन्द्रभाणजी, तिलोकचन्द जी आदि जो गण बाहर हो गये थे, उनके नाम ले-लेकर 'क्षमा—क्षमापना' किया। कहनेका तात्पर्य यह है कि उन्होंने निर्मल चित्त से तलस्पर्शी आत्म-निरीक्षण कर अघ परिहार द्वारा जीवन शुद्धि की। स्वामीजी की इस आत्म-आलोचना का सार श्रीमद् जयाचार्य ने "भिक्षु जश रसायन" नामक ग्रंथमें दिया है। इसके पढ़नेसे परम शान्ति और स्वर्गीय आत्मानन्द मिलता है। इस आलोचना के सम्बन्ध में उपरोक्त आचार्य लिखते हैं :"ऐसी आलोचना के कान में पड़ने से ही अत्यन्त वैराग्य उत्पन्न होता है और जो ऐसी आलोचना करता है, उसका तो कहना ही क्या ? उसके बड़े भाग्य हैं।"

—अनशन—

यह चौथ की बात है। भाद्र शुक्ला पंचमी—'सम्वत्सरी' के दिन स्वामीजी ने चौआहार शुन्य उपवास किया। तृषा—प्याससे बड़ी असाता — तकलीफ हुई, परन्तु

स्वामीजी ने बड़े समचित्त से उसे सहन किया। छठके दिन बहुत थोड़े आहारसे पारणा किया और औषध भी ली, परन्तु तुरन्त ही वमन हो गया। स्वामीजी ने उस दिन के लिए तीन आहार का त्याग कर दिया। सप्तमी तथा अष्टमी को भी अल्प आहार लेकर त्याग कर दिया। खेतसीजी ने इस तरह त्याग न करने के लिए आग्रह किया, परन्तु स्वामीजी ने कहाः "अब देह से क्या मोह है? अब तो उसे क्षीण करते हुए वैराग्य बढ़ाना चाहिए।" ९ मीं तथा १० मीं को स्वामीजीने आजीवन आहार त्याग की बात चलाई, परन्तु खेतसीजी तथा भारीमालजी के अनुरोध से थोड़ा आहार चखा और फिर तुरन्त आहार का त्याग कर दिया। एकादशी के दिन अफीम और जलके सिवा सब आहार का त्याग कर दिया और बोलेः "आज से आहार लेने का विचार नहीं।" बारस के दिन बेला किया। इस प्रकार शरीर की ममता न करते हुए तथा पौद्गलिक सुखोंको ठुकराते हुए स्वामीजी 'संथारे"—देह विसर्जन—की तैयारी करने लगे। वे बड़े सजग रहते और उनके हृदयमें अपूर्व वैराग्य था। इधर शरीर—पौद्गलिक-शक्ति क्षीण पड़ती जा रही थी और उधर उनकी आत्मा अधिकाधिक दृढ़ होती जा रही थी। शरीर-शक्ति और आत्म-शक्ति में कठोर द्वन्द्व हो रहा था! स्वामीजी बड़े प्रसन्न चित्त थे। उनकी भावनाएँ बड़ी निर्मल थीं। वे देह का सार खींच चुके थे। अब वह उनके लिए असार वस्तु थी। जब तक देह जीवन जीने में सहायभूत थी, वे उसका अनाशक्ति पूर्वक पालन करते रहे, जब देह जीवन जीने में सहायभूत होती नहीं मालूम दी, तो वे अनाशक्ति पूर्वक उसके विसर्जन के लिए तुल गए। वे अनूठे योगी थे। मृत्यु को वे एक दैवी सम्पत् की तरह बरन करने को प्रस्तुत थे। उन्होंने जो कुछ किया, वह आत्म-साक्षी पूर्वक भगवान के वचनों को सामने रख कर, इसीलिए फलके सम्बन्ध में उन्हें जरा भी शंका न थी और वे इतने निश्चिंत थे। मौत का उन्हें जरा भी भय न था।

—आजीवन आहार-परित्याग—

सोमवार, भाद्र शुक्ला बारस का दिन आया। स्वामीजी कच्ची हाट से चलकर सामने वाली पक्की हाट में आए। शिष्यों ने बिछौना किया और स्वामीजी शान्ति से विश्राम करने लगे। इस तरह विश्राम करते हुए कुछ ही देर हुई होगी कि ऋषि रायचन्दजी, स्वामीजी के पास आकर बोले : "स्वामीनाथ! कृपा कर दर्शन दीजिए।" स्वामीजी ने यह सुन नेत्र खोले और ऋषि की ओर देखते हुए उनके मस्तक पर अपना हाथ रखा। बुद्धिमान बालक संत रायचन्दजी, स्वामीजी की हालत देख कर उनसे बोलेः "स्वामीनाथ! आपके पराक्रम क्षीण पड़ रहे हैं।" यह बात सुनते ही स्वामीजी चौंक बैठे जैसे कोई सोया हुआ सिंह जगा हो। अपने शरीर की सारी शक्ति बटोर कर वे उठ बैठे। पुद्गलों के साथ यह कैसा तुमुल युद्ध था! कैसी चमत्कार पूर्ण आत्म-जागृति और आत्म-साधना थी!! स्वामीजी ने उसी समय ऋषि भारीमालजी और खेतसीजी को अपने पास बुलाया। याद करते ही दोनों संत उपस्थित हुए। उनके पहुँचते ही अरिहन्त और सिद्ध भगवान को 'नमोत्थुणं' कर श्रावक-श्राविकाओं के सन्मुख उच्च स्वरसे यावज्जीवन तीन आहार का त्याग कर तीव्र वैराग्य भाव से 'संथारा' कर दिया। संतों ने कहा : "अफीम का आगार क्यों नहीं रख लिया?" स्वामीजी ने जवाब दिया—"अब आगार किस लिए? अब शरीर की क्या सार करनी है?"

जिस समय स्वामीजी ने 'संथारा' ग्रहण किया उस समय करीब दोघड़ी दिन था। हवा की तरह यह बात चारों ओर फैल गई। लोग चारों ओर से दर्शन के लिए जुटने लगे। नर-नारियों की इतनी भीड़ हुई कि बाजार में समानी कठिन हो गई। जो जन्म भर द्वेषी रहे, वे भी आश्चर्यचकित हो गए और अब उनकी समझमें आया कि यह मार्ग कितना खरा—सचा है।

"कई धर्म तणा द्वेषी हुंता हो, ते पिण अचरज पाम्या तिणबार।
अनमी कई आवी नम्या हो, स्वाम तणे सन्थार॥"

"स्वामीजीके इस सन्थारेमें वे भी उनके चरणोंमें आकर झुक गये, जिन्होंने पहले नमस्कार करना तो दूर रहा, कभी उन्हें सद्भावनासे देखा तक न था।"

स्वामीजीने बड़ों-बड़ोंसे बाजी लगा दी। 'सन्थारा' पचक्ख बड़े भारी मनोबल का परिचय दिया। धन्य है स्वामीजी की धीरता! धन्य है उनका निर्मल ध्यान!! धन्य है उनकी शूर वीरता!!! और धन्य है उनकी मेरुके समान दृढ़ता!!!!

झुंड-के-झुंड लोग आकर परम हर्षके साथ स्वामीजीके दर्शन कर 'क्षमा-क्षमापना, करने लगे। लोगोंने नाना प्रकारके पचक्खाण-त्याग किये। किसीने स्वामीजीका 'सन्थारा' पूरा न हो तब तक के लिये कच्चा जल छोड़ा, किसीने ब्रह्मचर्य का नियम लिया, किसीने अग्नि सिलगाने का त्याग किया, किसीने हरी खाने का, किसीने रात्रि भोजनका। इस तरह लोग धर्म-ध्यानकी ओर चित्त देकर स्वामीजीके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ चढ़ाने लगे।

'सन्थारे' के बाद संध्या समय स्वामीजीने 'प्रतिक्रमण' किया और बादमें रात्रिमें ऋषि भारीमालजीसे बोलेः "व्याख्यान दो।" एक ओर स्वामीजी का 'सन्थारा' और दूसरी ओर व्याख्यान देनेकी आज्ञा! ऐसी परिस्थितिमें व्याख्यान देना बहुत बड़े धैर्यको समेटना था। वह कोई सहज बात न थी। ऋषि भारीमालजी बोलेः "स्वामीनाथ! आपके 'सन्थारे' में हमारे व्याख्यानकी क्या विशेषता?" स्वामीजी बोलेः "कोई साध्वी 'सन्थारा' करती है तो उसके पास जाकर धर्मोपदेश किया जाता है, फिर हमारे 'संथारे' में धर्मौपदेश क्यों नहीं देते!" गुरुने शिष्यसे धर्मौपदेश सुनना चाहा और उसके लिये कितना आग्रह दिखाया! जब शरीर-शक्ति क्षीण होने लगती है तो आत्मार्थी पुरुष दूसरोंके सहारेसे अपनेको चेतन रखनेकी चेष्टा करता है। स्वामीजी अपने 'संथारे'में अपने शिष्यसे धर्मोपदेश सुनकर धर्म-ध्यानमें अपनेको लीन कर लेना चाहते थे। विशेष आग्रहके कारण भारीमालजीको व्याख्यान देना पड़ा। स्वामीजी ने उसे बड़े ध्यानसे मनोयोग पूर्वक सुना।

—अन्तिम दिन—

बारसकी रात बीती और तेरसका पावन दिन उदय हुआ। आस-पासके गाँवों से आ-आकर इतने लोग एकत्रित हो गये, जैसे कोई बड़ा मेला लगा हो। लोगोंके हृदय हर्षसे भरे हुए थे। सबके चेहरों पर परमानन्द था। स्वामीजीके दर्शन कर लोग तन-मनसे हर्षित हो रहे थे और उनके गुणगाण करते हुए कह रहे थे: 'आप धन्य है। आप जिन-मार्ग के धोरी हैं। आपने जिस उमङ्ग और उत्साहसे शुद्ध मार्ग ग्रहण किया, उसी उत्साह और उमङ्गसे आपने उसे आजीवन उज्वलित किया है। आपकी शूर वीरता धन्य है और धन्य है आपका पराक्रम!"

सुबह प्रायः पहर दिन चढ़ा होगा, स्वामीजीने कुछ जल ग्रहण किया और ध्यानस्थ हो गये। इस समय एक आश्चर्यकारी घटना घटी। करीब १॥ पहर दिन चढ़ा होगा। स्वामीजी बोले: "साधु और साध्वियाँ आरही हैं, उनके सामने जाओ।" कइयों ने समझा स्वामीजीका ध्यान साधुओं में लगा हुआ है, इसीलिये ऐसा कह रहे हैं। परन्तु ऐसा कहनेके करीब एक मुहूर्त बाद कई साधु आ पहुँचे जो तृषासे अत्यन्त व्याकुल हो रहे थे और फिर एक मुहूर्त बाद साध्वियाँ भी पहुँचीं। लोगोंके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। स्वामीजीने यह बात कैसे कही, यह कोई नहीं सका। इस घटना पर टिप्पणी करते हुए श्रीमद् जयाचार्य लिखते हैं कि स्वामीजी ने यह बात अटकल-अन्दाजसे कही थी या उन्हें अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ था, यह निश्चय तो केवली ही जाने परंतु उनको कही हुई बात अवश्य मिली। आये हुए साधु-साध्वियों ने स्वामीजी को वंदन-नमस्कार किया। स्वामीजीने वंदना स्वीकार संतोंके मस्तक पर हाथ रक्खा।

स्वामीजीको लेटे हुए बहुत देर हो चुकी थी। संतोंने उनकी इच्छासे उन्हें बिठाया। स्वामीजी ध्यानासनमें बैठे। उस समय उनके कोई तकलीफ नहीं मलूम देती थी, शरीर निरोगसा लगता था। दर्जी वैकुण्ठी सीनेके लिये आये।

स्वामीजीकी मुख-मुद्रा देखकर उन्होंने सूई पगड़ी में डाल ली। उन्हें यह विश्वास न हुआ कि स्वामीजी का देहावसान अब केवल ंद समयकी बात है। स्वामीजी ध्यानमग्न थे और संत उनके पास बैठे हुये गुणगान कर रहे थे। देखते-देखते ही स्वामीजीकी आयु अवशेष हो गई। ध्यान मुद्रा में ही वे देवलोक सिधार गए। संतोंने स्वामी जी के शरीरको बोसरा, चार "लोकस्स" का ध्यान और कायोत्सर्ग किया। सब संत-साध्वियोंने उपवास किया। स्वामीजीका विरह बड़ा ही दुःसह था, परंतु गुणवान संतोंने उसे बड़े धैर्यसे सहन किया। पूज्य जयाचार्य कहते हैं: "संसारका स्वरूप ऐसा ही अस्थिर है। स्वामीजी जैसे महान् पुरुष भी परलोक सिधारे। स्वामीजी बड़े पुण्यवान पुरुष थे। वे गुणोंके अथाह भण्डार थे, परन्तु काल आने पर उन्हें भी परलोक सिधारना पड़ा। संसारके सारे संयोग इसी तरह विनाशशील हैं।"

ऐसा समाधिपूर्ण महाप्रस्थान बिरलोंको प्राप्त होता है। स्वामीजीको ७ भक्तका अनशन और ३ भक्त अर्थात् ७ पहरका संथारा आया। उनका देहान्त सं० १८६० साल की भादवा सुदी १३ मङ्गलवारको सूर्यास्तमें प्रायः १॥ पहर घटती थी, उस समय हुआ।

स्वामीजीके लिये तेरह खण्डी वैकुण्ठी तैयार कराई गई और उसीमें उनकी रथी निकाली गई। रथीके साथ असाधारण भीड़ थी और उनके पीछे बहुत रुपयों की उछाल की गई।

जीवन सम्बन्धी खास-खास बातें

—महत्वपूर्ण वर्ष—

(१) जन्म सम्वत् : १७८३

(२) प्रथम दीक्षा सम्वत्: १८०८

(३) बोध-प्राप्ति सम्वत्: १८१५

(४) नई दीक्षा सम्वत्: १८१७

—महत्व पूर्ण स्थान—

(१) जन्म स्थान : कंटालिया ग्राम

(२) प्रथम दीक्षा : बगड़ी

(३) बोध-प्राप्ति स्थान : राजनगर

(३) नई दीक्षा : केलवा

(४) चर्म कल्याण : शिरियारी

—आयुष्य का ब्यौरा—

(१) घर में : २५ वर्ष

(२) आचार्य रुघनाथजी के साथ : ८ वर्ष

(३) तेरापंथी सम्प्रदाय के नायक रूपमें : ४४ वर्ष

(४) देहावसान ७७ वर्ष की अवस्था में

—मुद्रा और शरीर—

स्वामीजोका शरीर दीर्घ बलवान था। उनकी आँखें विशाल और तेजस्वी थी।

आँखोंमें खून की लाली दिखाई देती और उनसे एक स्वाभाविक प्रकाश प्रकट होता। उनका वर्ण श्याम था। चेहरा सुडौल और सुहावना था। मुख मुद्रा बड़ी ही सौम्य और शरीर निर्मल था। उनकी चाल फुरतीली थी और अन्त समय तक वह वैसी ही रही।

स्वमीजी की बाणी में मधुरता, प्रभाव और चुम्बक का सा आकर्षण था। शब्दों में समुद्र का सा गुंजारव था। शब्द घोष उच्च और गंभीर था। वचनों में अद्भुत सिद्धि और चमत्कार था। उनके शरीर चिन्हों के विषयमें एक दोहा 'शासन विलास' नामक ग्रन्थ में मिलता है, जिसे हम नीचे देते हैं—

श्री भिखुना पग जीमणा में उर्द्ध रेखा जाणियै
जीमणा हाथे मच्छ रेखा मच्छाकार बखाणियै
बलि जीवणा कर पास पउँचे तीन रेखा मणिवंधरी
द्वय हस्त नी दश आंगुलीयै दशो चक्र अछै वरी ॥ १ ॥
नाड़ (ग्रीवा) तेह में त्रय रेख लाम्बी ही सही
ललाट में पिण तीन रेख जु लांबी ते बहु शुभ कही
द्वय कर्ण ऊपर केश जाके पेट पर रेखा त्रयो
बलि पेट ऊपर सुंडी पासे स्वस्तिका आकार ही ॥ २ ॥
फुन पेट ऊपर ध्वजा को आकार लिखियो आख ही
तस फल वरस द्वय सहस परिमित नाम जग बिख्यात ही
इत्यादि शुभ लक्षण घणां श्री भिक्षुना तनना लिख्या
देखिने अनुसार तेहने इहां पिण तिमहिज अख्या ॥ ३ ॥

—जन्म-कुण्डली—

"शासन विलाश" में स्वामीजी को कुंडली निम्नलिखित गाथाओं में मिलती है:—

मीन लग्न लग्ने तम गुरु रे तृतीय भृगु पंचम रवि बुध सु०
भौम छठै शिखी सप्त में रे लाल दशमें चन्द्र एकादशम शनि शुद्ध॥

मूल ध्रुव्य त्रुर्य पाद में रे हरख्यो सहु परिवार सु०
भीखण नाम दियो भलो रे लाल कर उत्सव विस्ताार ॥ १५ ॥

—प्रचार-क्षेत्र—

स्वामीजी की दीक्षा-पर्याय बावन वर्ष जितनी लम्बी थी। स्वामीजी ने कुल ५१ चौमासे किये। ८ चौमासे आचार्य रुघनाथजी के पास रहते हुए किये। अवशेष ४३ चौमासे नई दीक्षा के बाद शुद्ध संयम में बिताये, जिनका ब्यौरा इस प्रकार हैः—

स्थानः	चौमासों की संख्याः	सम्वत्:
१—केलवा	६	१८१७, २१, २५, ३८, ४६, ५८
२—बरलू	१	१८१८
३—राजनगर	१	१८२०
४—कंटालिया	२	१८२४, २८
५—बगड़ी	३	१८२७, ३०, ३६
६—माधोपुर (गढ़ रिणत भंवर की तलेटी)	२	१८३१, ४८
७—पींपाड़	२	१८३४, ४५
८—आमेट	१	१८३५
९—पादु	१	१८३७
१०—सोजत	१	१८५३
११—श्रीजीद्वार	३	१८४३, ५०, ५६
१२—पुर	२	१८४७, ५७
१३—खेरवा	५	१८२६, ३२, ४१, ४६, ५४
१४—पाली	७	१८२३, ३३, ४०, ४४, ५२, ५५, ५९

१५—शिरीयारी	७	१८१९, २२, २९, ३९, ४२, ५१, ६०

मारवाड़, मेवाड़, ढुंढ़ाड़ और हाड़ोती ये चार देश ही स्वामीजी के धर्म-प्रचार के क्षेत्र रहे। स्वामीजी एकबार चुरू (बीकानेर) भी पधारे थे। इस तरह थली प्रदेश को भी उन्होंने अपने चरण-कमलों से पवित्र किया। थली प्रदेशमें धर्म-प्रचार स्वामीजी के समय में नहीं हुआ था। कच्छ देशमें धर्म-प्रचार का कार्य श्री टीकम डोसी के द्वारा हुआ था, जिसने स्वामीजी के दो बार दर्शन किये थे।

—स्वामीजी की कृतियाँ—

मूल जैन सिद्धान्त और जैनाचार को जनता में फैलाने के लिए स्वामीजीने मारवाड़ी भाषा में साधु तथा गृहस्थ-जीवन उपयोगी अनेक महत्वपूर्ण रचनाएँ की हैं। उनकी रचनाएँ जैन साहित्य की अमर कृतियाँ हैं। जैन धर्म के रहस्योद्घाटन में वे एक गहरा प्रकाश डालती हैं। उनकी अधिकाँश रचनाएँ ढ़ालों—रागिणीपूर्ण कविताओंमें हैं। गद्य में भी कई कृतियाँ उपलब्ध हैं। इन रचनाओंमें असाधारण आगम-दोहन है और इनसे स्वामीजी की गहरी स्वाध्याय शक्ति, मूलाचार के प्रति अगाध श्रद्धा और जैन धर्म के उद्धार के लिए उनके मनमें रही गहरी तमन्ना का परिचय मिलता है।

स्वामीजी की मुख्य रचनायें, जो हमारी जानकारी में हैं, निम्नलिखित हैं :—

रचना	ढ़ाल	दोहा	गाथा
१—बारह व्रत को चौपई	१३	५१	३८०
२—जुवै की ढ़ाल	१	४	६१
३—निनावै अतिचार की ढ़ाल	१	२	३१
४—जिन आज्ञा को चौढ़ालियो	४	२२	१८६

५—चार निखेपां की चौपई	६	३०	२६७
६— अनुकम्पा की ढालाँ	१४	६३	६०५
७—समकित की ढ़ाल	१		२३
८—श्रावक गुण सज्झा	१	—	२१
९—तीन बोलां करी जीव अल्प आउखो बांधे	१		१६
१० - इन्द्रीवादी की ढ़ाल	१	७	४०
११—दान निचोड़ की ढ़ाल	१	४	३१
१२—चतुर विचार की ढ़ाल	३	५	२६६
१३—नन्दन मिणीयारको चौढ़ालियो	४	१९	७८
१४—दश दान की ढ़ाल	१	६	२६
१५—चरम जिन विनति	१		१४
१६—प्रतिमा पूजन ढ़ाल ।	२		२४
१७ एकलरो चौढ़ालियो	४	२०	६७
१८—सुदर्शन सेठ को बखाण	४२	१९७	६९७
१९—उदाई राजा को बखाण	७	३३	१००
२०—जम्बु कुँवर की चौपई	४	७	५७
२१—शील की नवबाड़	११	४६	१६६
२२— अर्जुन माली को चौढ़ालियो	६	२७	५६
२३—ढ़ंढ़ण मुनिको चौढ़ालियो	४	१५	४०
२४—कृष्ण बलभद्र की चौपई	१५	४३	१६०
२५—जिनरिख जिनपालको चौढ़ालियो	४	२८	५२
२६—जिनकल्पी साधु की ढ़ाल	१		१३
२७—नव पदार्थ सद्भाव निर्णय	१३	६६	६८४

२८—विनय विवेक की ढ़ाल	१	५	७५
२९—प्राणी समकित किण बिधपाई रे	१		१६
३० -४२ दोष की ढ़ाल	१		३०
३१—साधु के इव्रत की ढ़ाल	१	५	४५
३२—पोथ्यां पड़िलेहण की ढाल	१	७	५९
३३—श्रावक नर्कगामी नव कड़ा	१	५	५७
३४—साधु नर्कगामो नव कड़ा	१	१०	३९
३५—सरस आहार की ढ़ाल	१	८	१३
३६—पाँचवें आरे का भाव	१	६	१४
३७—पांचवें आरे का भाव	१	८	३१
३८—मर्यादा की ढ़ाल	१	९	३३
३९—साधु आचार की चौपई	११	४९	५००
४०—विनीत-अविनीत की चौपई			
४१— बारह व्रत को लेखो			
४२—कालवादी की चौपई			
४३—टीकम डोसी प्रश्नोतर			
४४—मिथ्यात्वी करनी अधिकार			
४५—प्रज्यावादी की ढ़ाल			
४६—पोत्याबंध की ढ़ाल			
४७—टालोकड़ रास			
४८—लिखत			
४९—१८१ बोलकी हुंडी			
५०—१३ द्वार को थोकड़ो			
५१—पाना की चर्चा			

५२—-५२ बोल को थोकड़ो

५३—समायक ओलखावण की सज्झाय

५४—सामायकरी सज्झाय

५५—बिकल पचक्खानी की ढाल

५६—धावता बालककी मां ने दिख्या देनरी सज्झाय

५७—किवाड़ना दोष की ढाल

५८—अम्बड़ सन्यासी की ढाल

५९—अल्प दोष बहु निर्जरा की ढाल

६०—वेयावच उपर ढाल

६१—व्यावलो

—रचनाओं का संक्षिप्त परिचय—

स्वामीजीने कुल ३८ हजारके लगभग गाथाओं * को रचनाकी, ऐसा उल्लेख श्रीमद् जयाचार्य ने 'भिक्षु जस रसायन' नामक ग्रंथ में किया है। स्वामीजी के परम भक्त श्रावक शोभजी की एक ढ़ालमें भी ऐसा ही उल्लेख है। मालूम होता है कि श्रीमद् जयाचार्यने स्वामीजी के जीवन-चरित्र लिखनेके पूर्व स्वामीजीकी समस्त कृतियों को एक स्थान में कर लिया था। अप्रकाशित होनेसे स्वामीजीकी समस्त कृतियोंको देखनेका सौभाग्य हमें न मिला। ३८ हजार पदोंकी संख्याका पूरा मिलान करना बहुत ही जरूरी है, जिससे कि स्वामीजी की कृतियाँ अक्षय रह सकें। हमतो अभी इस कार्य को अधूरा ही छोड़ते हैं। अब हम संक्षेपमें स्वामीजीको कृतियोंका परिचय देते हैं।

"साधु आचार की चौपई" और "१८१ बोलकी हुंडी" साधु आचार विषयक पुस्तकें हैं। इनमें स्वामीजीने अपने समकालीन साधुओंमें आ घुसे दोषोंकी तीव्र आलोचना की है और साथ ही सच्चे साधु आचार और श्रद्धाका जैन आगमके

* बत्तीस अक्षरोंके संकलनको एक गाथा या ग्रन्थाग्र गिना जाता है।

अनुसार निरूपण किया है। शिथिलाचारके प्रति उनके उग्र खिन्न भावनाओंका अन्दाजा इन रचनाओंसे लगाया जासकता है।

"नव सद्भाव पदार्थ निर्णय" नामक पुस्तक में नव तत्वों का सूक्ष्म विवेचन है। द्रव्य जीव और भाव जीव, द्रव्य पुद्गल और भाव पुद्गल, पुण्य क्या है और उसका-संचय कैसे होता है, आदि विषयों का जैसा तलस्पर्शी ज्ञान और विवेचन इस ग्रंथ में है, वैसा कम पुस्तकों में देखने में आता है। यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं कि यह ग्रन्थ अपनी कोटि का एक बेजोड़ ग्रन्थ है।

"बारह व्रत को चौपई" श्रावकोपयोगी साहित्य का एक अमूल्य रत्न कही जा सकती है, जिसमें श्रावक के व्रतों का बहुत सुन्दर ढंग से सरल-सुबोध भाषा में हृदयग्राही वर्णन है। व्रतों के अर्थ का विवेचन, आश्चर्यकारी मौलिकता और जिनागम के अपूर्व रहस्य से गर्वित है।

'शील की नव बाड़" एक असाधारण उच्चकोटि की रचना है, जो एक संस्कारी ब्रह्मचारी की निर्मल लेखनी से ही प्रवहित हो सकती है। इसका एक-एक शब्द और पद मनुष्य को ब्रह्मचर्य की उत्तमता की ओर आकर्षित कर हृदय को वैराग्य की धारा से परिप्लावित कर देता है।

"सुदर्शन सेठ" मारवाड़ी भाषा की रागिनी पूर्ण गाथाओं में एक सरस काव्य है, जिसमें एक पत्नि व्रती सुदर्शन सेठ के ब्रह्मचर्य पूर्ण जीवनका हृदयग्राही वर्णन है।

"जिनरिख जिनपाल के चौढ़ालिये" में स्वामीजी ने व्रत-अव्रतके अन्तरको बड़ा स्पष्ट कर दिया है और ग्रहण किये हुए व्रतों के नहीं पालनेसे कैसी दुर्गति होती है, यह दिखानेकी चेष्टा की है।

"अनुकम्पा को ढालों" में अहिंसा और दयाका अपूर्व वर्णन है। इनमें पद-पद पर स्वामीजी के आगम-दोहन और अनुशीलन की सतत् प्रवृति का सुन्दर परिचय मिलता है। अहिंसा और दया का आगम अनुसार पर मौलिक वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है और अहिंसा के एक अमर पुजारी की लेखनी से ही ग्रन्थित हो सकता है।

"चतुर-विचार की ढालें", "दश दानकी ढाल" और 'दान निचोड़ की ढ़ाल'में दान विषयका अहिंसा ही की तरह सूक्ष्म विवेचन है।

"समकित की ढाल" और "श्रावक गुण सज्झाय" में सम्यक्त्व और आदर्श श्रावक के आधार भूत गुणोंका बड़ा ही सारगर्भित उपदेश है।

"विनीत-अविनीत की चौपई" में विनय और अविनयका भेद दिखाकर सच्चे देव-गुरु-धर्म के प्रति विनयभाव को जाग्रत करने की चेष्टा की है।

"इन्द्रीवादी की ढ़ाल" में इन्द्रियाँ सावद्य नहीं, मनुष्य के भाव ही सावद्य निर्वद्य होते हैं, यह दिखाया है और इन्द्रियों को वश में करने का उपदेश दिया है।

"एकलरो चौढ़ालियो" इस रचना में एकल विहारी साधु की तीव्र आलोचना है और इसमें जिन-आगम विपरीतता को छोड़ने की एक बलवान प्रेरणा है।

"तेरह द्वार के थोकड़े" में तेरह प्रकरण द्वारा जैन तत्वों के रहस्य को बहुत सुबोध रूप से समझाकर जैनागम रहस्य को सरल कर दिया है। यह थोकड़ा जैन गूढ़ तत्वों के समझने में एक चाबी की तरह है।

"जिन आज्ञाके चौढ़ालिये" में "आणाए णाणो आणाए तवो" सिद्धान्तकी सर्वोपरिता को सिद्ध किया है। जैन धर्म वही है, जिसका जिन भगवान ने परूपण किया और वही सदा शिरोधार्य है इस श्रद्धा को हृदयङ्गम कराने के लिए ही चौढ़ालिये की उत्पत्ति हुई है।

—शिष्य-सम्पदा—

श्रीमद् जयाचार्य ने अनेक जगह स्वामीजी को "भाग्यबली" कहा है और यह भी कहा है "उन्हें उदार संयोग प्राप्त हुआ।" स्वामीजीको कितनी विकट परिस्थितियों में से गुजरना पड़ा था, यह पाठक पहले देख चुके हैं। ऐसी हालत में स्वामीजी के सम्बन्ध में उपरुक्त वाक्योंका प्रयोग कुछ बेढ़ब-सा लगता है। पर जब हम स्वामीजी

के शिष्य-समुदाय पर दृष्टि डालते हैं, तो हमें इस बातमें सन्देह नहीं रहता कि वे निश्चय ही बड़े भाग्यबली थे और उन्हें गुणवान शिष्योंका अपूर्व संयोग प्राप्त हुआ था।

स्वामीजी ने अपने जीवन काल में ४८ साधु और ५६ साध्वियों को दीक्षित किया। जिनमें से २८ साधु और ३९ साध्वियों ने जीवन पर्यन्त उनकी अधिनता में साधुत्व का पालन किया। अवशेष साधु-साध्वियों में से कई अपनी असमर्थता से दूर हो गये, कई चरित्र की त्रुटियों के कारण अलग कर दिये गये। स्वामीजी के कठोर अनुशासन में केवल पवित्र आत्माओं को ही स्थान था। जो एकान्त आत्मार्थी थे वही उनके चरणों की सेवा में रह सके।

स्वामीजी की शिष्य मंडली में बड़े ही तपस्वी, धर्ममूर्ति, ज्ञानी, गुणवान, वैरागी और भद्र प्रकृति के साधु थे। उनके साधुओं का जीवन बड़ा ही निर्मल और निष्कलंक था। इस दृष्टि से निश्चय ही वे बड़े भाग्यशाली थे।

यहाँ स्वामीजी के शिष्यों का कुछ वर्णन दे देना अप्रासंगिक न होगा:—

[१] मुनि थिरपालजी: ये वही संत थे जिनको प्रेरणासे स्वामीजीने धर्म-प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया। स्वामीजी ने इनको दीक्षा में अपने से बड़ा रक्खा और आचार्य होने पर भी विधिपूर्वक रोज उन्हें वंदना करते। ये बड़े ही तपस्वी, वैरागी, और विनयवान सन्त थे। शीतकाल में पछेवड़ी—परिधान दूर कर शीत सहन करते और गर्मी और बर्षा में इसी तरह अन्य अनेक तप करते। श्रद्धा के वे साकार स्वरूप थे। स्वामीजी के प्रति उनकी अगाढ़ भक्ति थी। जयाचार्य ने कहा है—"उनकी तपस्या का वर्णन कायरों के हृदय में भय का संचार कर, उन्हें कम्पित कर देने वाला है। शूरों के हृदय में वह अत्यन्त हर्ष और पौरुष जगाने वाला है।" इनका स्वर्गवास सं० १८३२ में खेरवे शहर में हुआ। इस वर्ष चातुर्मास के चार महीनों में आपने केवल १४ दिन ही आहार किया, आपको जयाचार्यने "धर्म मूर्ति" कह कर सम्बोधित किया है।

[२] मुनि फतेहचन्दजी : ये साधु थिरपालजीके पुत्र थे। निराभिमानी स्वामीजीने

इन्हें भी दीक्षा में अपने से बड़ा रक्खा। अपने पिता की तरह इन्होंने भी स्वामीजी को धर्म-प्रचार करने की प्रेरणा दी थी। ये भी बड़े फक्कड़ साधु थे और पिता की ही तरह बड़े तपस्वी थे। एक बार इन्होंने ३७ दिन की तपस्या की और पारणा के दिन बाजरी की ठंडी घाट मिली, उसी से सन्तोष पूर्वक आहार किया। इस कारण से उनका स्वर्गवास हो गया। पिता और पुत्र दोनों वृद्ध होने पर भी उन्हें अपनी वयोवृद्धता का जरा भी मान नहीं था। जब कोई उनसे प्रश्न पूछता तो यही कहते—"स्वामीजीसे पूछो। जो वे कहें, वही ठीक है।"

[३] मुनि टोकरजी : ये बड़े ही विनयवान सन्त थे और स्वामीजी की बड़ी भक्तिभाव से सेवा करते थे। स्वामीजीके बड़े विश्वास-पात्र थे। आपने संलेखणा कर बगड़ी शहर में स्वर्गारोहण किया।

[४] मुनि हरनाथजी : ये भी बड़े विनयवान सन्त थे और स्वामीजी की सेवा में हर समय हाजिर रहते थे। आपने ढूंढाड़ देश में संथारा कर स्वर्ग प्राप्त किया।

[५] भारीमालजी : आपका जन्म मेवाड़ के मूहो ग्राम में सम्वत् १८०३ में हुआ था। आपकी दीक्षा मारवाड़ के केलवे ग्राम में हुई थी। आप ही द्वितीय आचार्य हुए। स्वामीजी ने सं० १८३२ में ही इन्हें युवराज पदवी से विभूषित किया और साधु-साध्वियों को उनकी आज्ञा पालन करने और उनके नाम से दीक्षा देने का हुकुम फरमाया था। साधु भारीमालजी बचपन से ही कितने गुणवान और धर्म-दृढ़ थे यह पहले दिखाया जा चुका है। आप बड़े सौम्यमूर्ति साधु थे। अन्त समय में स्वामीजी ने अपने मुखारविंद से उनकी प्रशंसा की और शुद्ध संयम–पालन में उनका कितना सहयोग रहा, यह बतलाया था। आपने अपने शासन-काल में ३८ साधु और ४४ साध्वियों को दीक्षा दी। आप बड़े प्रतापी आचार्य थे। आप बाल ब्रह्मचारी थे। आपका देहान्त ७५ वर्ष की अवस्था में मेवाड़ के राजनगर ग्राममें मिती माघ बदी ८ सं० १८७८ को हुआ था। अन्त समय में आपको ९ पहर का अनशन आया।

[६] मुनि अखयरामजी : आपने बावीस सम्प्रदायसे निकल स्वामीजी के पास चारित्र ग्रहण किया और स्थिर चित्त से अन्त तक सयम का पालन किया। आपने अन्त में ३६ दिन की तपस्या की।

[७] मुनि सुखारामजी : आप लोहावटके वासी थे और धर्म से पोत्याबंध थे। इनको स्वामीजी ने प्रतिबोधित किया। इनकी मुखमुद्रा देवमूर्ति सी लगती। इनकी धारणा शक्ति बड़ी निर्मल थी। प्रकृति सौम्य और सुहावनी थी। इनको अन्त में २५ दिन का अनशन आया। इनका स्वर्गवास १८६२ में हुआ।

[८] मुनि शिवजी : आप बड़े सुविनीत साधु थे। अन्त समय में पंडित मरण कर स्वर्ग सिधाए।

[९] मुनि नगजी : आपका जन्म स्थान कुड़्या था। आप भी अन्तमें संथारा कर स्वर्ग सिधारे।

[१०] मुनि स्वामजी : आप बूंदीके वासी थे। जाति के सरावगी थे। आपके छोटे भाई का नाम रामजी था। स्वामजी और रामजी दोनों यमज थे। आपकी दीक्षा रामजी की आज्ञासे केलवेमें हुई। आपका अन्तस्थल बड़ा ही निर्मल था। आपका देहावसन सं० १८६५ में पाली में हुआ। देहान्त के दिन आपके उपवास की तपस्या थी।

[११] मुनि खेतसीजी : ये श्रीजीद्वारके निवासी थे। इनके पिताजी का नाम शाह भोपोजी था। आपके दो विवाह हुए। दूसरी पत्नी का भी देहान्त हो गया। आपके पिताजी ने आपका तीसरा विवाह करना चाहा, पर आपकी जरा भी इच्छा न थी। आपकी दो बहिनें रावलिये विवाही गई थीं। वहाँ जाकर आपने बहिन-बहनोई को दीक्षा के लिए पिता से आज्ञा दिलवाने के लिए अनुरोध किया। आपके मन में संसार से वैराग्य हो गया था और आप साधु होना चाहते थे। व्यापार करते समय भी आप सविधि यत्न पूर्वक बोलते। आप अपने पिता के इतने विनयी थे कि मन में दीक्षा की तीव्र इच्छा होने पर भी संकोच वश अपने पिता से आज्ञा नहीं मांग सकते

थे। इसी बीच भोपजी शाह ने सुना की रंगुजी सती की दीक्षा हो रही है, तब उन्होंने खेतसीजी से पूछा : "क्या तुम्हारी भी दीक्षा लेने की इच्छा है ?" खेतसीजी ने हाथ जोड़ कर विनयपूर्वक कहा – "हाँ, मैं दोक्षा लेना चाहता हूं। मुझे संसार से विरक्ति हो गई है। आप आज्ञा दें, तो दोक्षा लूँ"। यह सुनकर शाह भोपजी ने दीक्षा की अनुमति दे दी और रंगुजी के साथ ही खेतसीजी का दीक्षा महोत्सव किया गया। आपकी दीक्षा सं० १८३८ में स्वामीजी के हाथ से हुई। श्रीजीद्वार से विहार कर जब स्वामीजी इनके साथ कोठारे पहुंचे तो पीछे भोपजी का देहान्त हो गया। खेतसीजी बड़े ही विनीत साधु निकले। जब कभी स्वामीजी इन्हें किसी कार्य की आज्ञा देते, तो वे हाथ जोड़ कर तुरन्त उसे करने के लिए हाजिर रहते। जब कभी स्वामीजी इन्हें कोमल-कठोर शिक्षा देते तो ये उसे शान्ति से हर्षपूर्वक ग्रहण करते और इनके मुख से केवल 'तहत्‌वचन' ही निकलता। स्वामीजी जैसे कठोर अनुशासन-प्रिय आचार्य को अपनी सेवाओं से प्रसन्न रखना एक मामूली बात न थी और वह एक अन्तरंग भक्ति-भाव की परिचायक थी। स्वामीजीने उनका नाम "सतयुगी" रखा था। उनकी प्रकृति सतयुगी पुरुष की तरह विनयी एवं निर्मल थी। जयाचार्य ने उनके लिए "गण-आधार" विशेषण प्रयुक्त किया है। आप बड़े तपस्वी थे और अनेक वार पाँच-पांच के थोकड़े किये और ऊपर में १९ दिन की तपस्या की, जिसमें केवल एक वार जल पीने की छूट रक्खी थी। एक पहर खड़े रहने की तपस्या आपने अनेक वर्षों तक की। शीत और उष्ण की तपस्या भी आपने की। आपने बावीस वर्ष तक स्वामीजी की सेवा की और द्वितीय आचार्य भारीमालजी के साथ १८ वर्ष रहे। आ० भारीमालजी के बाद संलेषणा—संथारा कर १८८० में स्वर्ग सिधारे। आप इतने गुणवान थे कि श्रीमद् जयाचार्यने आपका एक अलग जीवन चरित्र लिखा है।

[१२] मुनि रामजी : आप भी बड़े सरल साधु थे और संयम-पालन में बड़े निपुण थे। आपका देहान्त इन्दुगढ़ में १८७० में हुआ। देहावसानके दिन आपके चार दिन के उपवास की तपस्या थी।

[१३] मुनि नानजी : आप जाति के बोहरे थे। आपका ग्राम बरल्या था। आपने १८४१ में दीक्षा ली और स्वामीजी के बाद १८७१ साल में तेले की तपस्या में आपका देहान्त हुआ।

[१४] मुनि नेमजी : आप रोयट के निवासी थे। आपने स्वामीजी से दीक्षा ली और बहुत वर्षों तक संयम का पालन किया। आपने नैणवे शहरमें संथारा किया और स्वर्ग सिधारे।

[१५] मुनि बेणीरामजी : आपकी दीक्षा १८४४ में हुई थी। आपको स्वामीजी ने दीक्षा दी थी। आपने बड़े ही निष्कंलक रूप से चारित्र का पालन किया। आप बगड़ी के वासी थे। आप बड़े ही प्रबल पण्डित और चर्चावादी सन्त निकले। आपने बड़ी ख्याति प्राप्तकी। आप व्याख्यान बहुत ही सुन्दर देते और उनमें मौलिक दृष्टन्तों की भरमार रहती। आपके वचन श्रोता को बड़े मधुर लगते और आपके उपदेश से श्रोता चमत्कार को प्राप्त होते। आपने मालवा जा वहाँ धर्म-चर्चा कर अनेक जनों को प्रतिबोधित किया। आपकी बड़ी धाक पड़ती। आपके शब्दों में केशरी सिंहकी सी गूंज थी। आपकी बुद्धि बड़ी उदार और उत्पादक थी। आपने अनेकों को संयम दिया और धर्म वृद्धि करने में बहुत सहायक हुए। आपका स्वर्गवास स्वामीजी के बाद हरचासर शहर में १८७० की सालमें हुआ।

[१६] मुनि वर्द्धमानजी : आप कोटे के दौलतरामजी के टोले के साधु थे और उनके टोले से निकल कर स्वामीजी के संघ में दीक्षित हुए। इस तरह से पवित्र मार्ग में आ, आपने अपना जन्म सुधारा। एक बार आप विचरते-विचरते ढूंढ़ाड़ देश में आये और लू लगने के कारण विमार हो गए। अन्तमें संथारा ठा दिया और स्वर्ग सिधारे।

[१७] मुनि सुखजी: आपको स्वामीजीने दीक्षा दी। आप टुगंचके निवासी थे। आप बड़े गुणवान और सुज्ञानी थे। आपने अन्त समय में अनशन किया। आपको दश दिनका संथारा आया। आपका देहान्त सम्वत् १८६४ में स्वामीजीके बाद देवगढ़में हुआ।

(१८) मुनि हेमराजजी: आपका जन्म सम्वत् १८२९ की सालमें शिरियारी गाँव में हुआ था। आप ओसवाल थे। आप अमरोजी बागरेचा के सुपुत्र थे। आपकी माता का नाम सोमाजी था। जब मुनि हेम उदरस्थ हुए तब सोमाजी ने देव विमाण देखा। सोमाजी के सन्तान जीती न थी। उन्होंने हाथ जोड़ कर विनती की "मेरे सन्तान जीती नहीं।" उन्हें वापिस उत्तर मिला: "तुम्हारी दो सन्तानें जीवित रहेंगी।" यह स्वप्न देख कर सोमाजी खूब हर्षित हुईं। स्वप्न के अनुसार ही उन्हें बड़ा पुण्यवान पुत्र प्राप्त हुआ। हेमराजजी का जन्म माह शुक्ल १३ शुक्रवार के दिन पुख नक्षत्र में हुआ था। उस समय आयुष्मान् योग था। आप के एक छोटी बहिन भी हुई, जिनका नाम रत्तुजो था। आप बचपन से ही धर्म से प्रेम रखते थे। आप साधु सन्तों की प्रेमभाव से सेवा करते और रोज सामायिक करते। अन्तःकरण से बड़े पाप-भीरू थे। १५ वर्ष की बाल अवस्था में ही आपने पाप भय से परनारी का त्याग किया। आप धर्म-चर्चा में बड़े प्रखर थे। आपकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण, तत्पर तथा हाजिर-जवाब थी। कण्ठ बड़े मधुर और सुरीले थे। गृहस्थावस्था में भी आप व्याख्यान देते और लोगों को धर्मध्यान की ओर आकर्षित करते। आप व्यापार के लिए पाली, भिलाड़े आदि स्थानों को जाते तो वहाँ भी श्रावकों को समझा उन्हें व्रत आदि ग्रहण करने को प्रेरित करते। आप इतने निर्भीक थे कि विपक्षी साधुओं के स्थानकों में जाकर उन से चर्चा कर उन्हें परास्त करते। हेमराजजी के ये गुण देख कर स्वामीजी उनके प्रति बड़े ही आकर्षित थे। हेमराजजी का भी विचार दीक्षा लेने का था पर विचार-विचार में ही उन्होंने ३ वर्ष निकाल दिए। आपकी इच्छा, विवाह कर, कुछ वर्ष घर में रह, फिर दीक्षा लेने की थी। पर आखिर में सम्वत् १८५६ की साल दीक्षा लेने का पक्का विचार ठान लिया। और स्वामीजी से यावज्जीवन विवाह न करने का नियम ले लिया।

हेमराजजी के गुणों से स्वामीजी इतने आकर्षित थे कि जब उन्होंने दीक्षा के पूर्व साधु-प्रतिक्रमण सीखना शुरू किया तब ही भारीमालजी से बोले: "अब तुम

निश्चिन्त रह सकोगे। आगे मैं था। और अब तुम्हारे लिए यह हेम है। जब कभी धर्म-चर्चा का काम पड़े तो हेम को तैयार समझना।"

हेमराजजीने गृहास्थावस्था में ही माघ सुदी १५ सं० १८५२ के बाद छः काय जीवों की हिन्सा करने का त्याग कर दिया था। उनकी दीक्षा के लिए माघ सुदी १३ का दिन नियत किया गया। उनके बड़े बाप के बेटे ने रावले में शिकायत की—"भीखणजी हेमराज को जोर जबरन दीक्षा देना चाहते हैं।" स्वामीजी को गाँव में न रहने की आज्ञा दी गई।

गाँव के पँच हेमराजजी को साथ ले ठुकराणीजी के यहाँ गये। हेमराजजी ठुकराणी के पास पहुँचे और दीक्षा लेने की आन्तरिक भावना दिखाई। हेमराजजी देखनेमें बड़े ही रूपवान थे। वस्त्रों और गहनों से सुसज्जित होने से वे और भी सुन्दर लग रहे थे। ठुकराणीजी ने कहा : "मैं अभी तुम्हारा विवाह कराए देती हूँ।" हेमराजजी बोले : "आपको पाणि-ग्रहण करवाने से इतना प्रेम है तो गाँव में कुँवारे और भी बहुत हैं। मैं तो विवाह न करने का नियम ले चुका हूँ।" इतना कह वे वहाँ से उठ स्वामीजी के पास आ गए। ठुकराणीजी ने हेमराजजी की अन्तस्थ वैराग्य भावना को देख कर स्वामीजी पर लगाए हुक्म को हटा लिया।

दीक्षा के समय हेमराजजी की अवस्था २४ वर्ष की थी। पूर्ण युवावस्था में सम्पूर्ण भोगों को तिलाञ्जलि दे आपने धर्म-मार्ग पर अपने को न्योछावर कर दिया। आपकी दीक्षा शिरियारी में एक विशाल बड़ वृक्ष के नीचे हुई और उस समय हजारों लोग देखने आए। आपको दीक्षा १८५३ के माघ शुल्का त्रयोदसी वृहस्पतवार के दिन हुई। उस समय पुख नक्षत्र और आयुष्मान् योग था।

मुनि हेमराज जी बड़े ही उद्योत कारी पुरुष हुए। श्रीमद् जयाचार्ज ने आपके लिए "जिन-शासन का स्तम्भ" विशेषण लगा कोई अत्युक्ति नहीं की परन्तु उनकी महानपुरुषता को ज्यों-की-त्यों नपे-तुले शब्दों में ही अभिव्यक्ति दी है। जब हम मुनि हेमराज जी के जीवन पर दृष्टि डालते हैं तो वे एक महान गणधर से

लगते हैं जिन्होंने स्वामीजी के संदेश को एक कोने से दूसरे कोने तक पहुंचाया। एक बहुश्रुती तपस्वी, एक विराट् योगी, एक वैरागी सन्यासो, एक ज्ञानी मुनि और पुरुषार्थी आत्मार्थी के रूप में उनके दर्शन होते हैं।

चतुर्थ आचार्य पूज्यपाद जयाचार्य के आप विद्यागुरु रहे। उनके निर्माण का सारा श्रेय आप ही को था। श्रीमद् जयाचार्य ने "हेम नवरसो" में आपके जीवन चरित्र पर बड़ा सुन्दर प्रकाश डाल, अपनी आन्तरिक कृतज्ञता प्रगट की है। आपने कितने साधु संतों को पण्डित किया, कितनी दीक्षाएं दीं और कितने लोगों को श्रावक बना सच्चे धर्म का प्रकाश किया—आदि बातों को जब सोचें तो वास्तव में आप को स्वामीजी के मार्ग का आधारपुरुष कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं। श्रीमद् जयाचार्य कहते हैं :

"उपशम सम दम शील में हो, हेम सरीखा सन्त।
चौथे आरे पिण विरला होसी हो, साध महा गुणवन्त॥"

आपका स्वर्गवास सम्वत् १९०४ के वर्ष में जेठ सुदी २ के सुबह शिरियारी में हुआ। आपने साधु जीवन में ५१ वर्ष तक विहार किया।

[१९] मुनि उदयरामजी : आप जाति के चपलोत थे और केलवा के निवासी थे। आप बड़े ही तपस्वी सन्त निकले। आपकी दीक्षा पाली में १८५५ की साल में स्वामीजी के हाथ से हुई थी। आपने बड़े ही उमंगके साथ आंबिल तप किया। दिन-दिन चढ़ते वैराग्य से उसे ४२ ओली तक चढ़ा दिया। छठ-छठ आदि और भी अनेक तप आपने किये। आपने ८४१ आम्बिल किये। आप आचार्य भारीमालजी के बरतारे में सं० १८६० में संथारा कर चेलावास में स्वर्ग सिधारे।

[२०] ऋषि रायचन्दजी : आपकी दीक्षा सं०१८५७ में रावलियाँ ग्राम में हुई थी। आप जाति के बम्ब थे। आपके पिताजी का नाम चतरोजी शाह था। आपने दीक्षा ली उस समय आपकी अवस्था लगभग ११ वर्ष की थी। आपका बर-घोड़ा हाथी के हौदे पर निकाला गया था। आपके साथ आपकी माता कुशलांजी

ने भी दीक्षा ली। चैत सुदी १५ के दिन दीक्षा हुई। आपकी बुद्धि बड़ी प्रखर थी। आप बड़े गुणवान और पुण्यवान थे। यह देख कर स्वामीजी ने फरमाया—"यह पुण्यवान बालक तो आचार्य-पद के योग्य है"। ऋषि रायचन्दजी बड़े ही सौम्य-मूर्ति थे। आपकी मुद्रा बड़ी ही हँसमुख थी। स्वामीजी ने आपको आगे से ही तृतीय आचार्य पद के लायक घोषित कर दिया था। इसी से समझा जा सकता है कि यह बालक संत कितना तेजस्वी और प्रतिभा सम्पन्न था। अन्त समय में आपने स्वामीजी को कितना सहारा दिया, इसका वर्णन एक जगह ऊपर आ चुका है। आप भारीमालजीके लिए 'भुजागल' की तरह थे। आपने भारीमालजी की आज्ञा ले, सर्व प्रथम १८६९ की साल में जीतमलजी महाराज को दीक्षा दी, जो आगे जाकर चतुर्थ आचार्य पद के स्वामी हुए। ऋषि रायचन्दजी ने अन्त समय में भारीमालजी को बड़ा ही सहारा पहुँचाया। आप बड़े ही उद्योतकारी आचार्य हुए। साधु खेतसीजी सांसारिक हिसाब से आपके मामा थे। जैसे ही प्रकाशकारी पुरुष आचार्य भीखणजी थे, वैसे ही प्रकाशकारी शिष्य भी उनके पास आ जुटे। आपने अपने शासन काल में ७७ साधु और १६८ साध्वियों को दीक्षित किया। आपका देहान्त ६२ वर्ष की उमर में माघ बदी १४ सं० १८०८ को रावलियाँ में हुआ। आपने स्वामीजी श्री जीतमलजो को भावी आचार्य मनोनीत किया।

[२१-२२] मुनि ताराचन्दजीः आपकी दीक्षा सं० १८५७के जेठ मासमें हुई। आप के पुत्र डूंगरसीजीने भी दीक्षा ली। ताराचन्दजी ने अपनी स्त्री को छोड़ कर और डूंगरसी जी ने सगाई छोड़ दीक्षा ली थी। दोनों ही सन्त बड़े वैरागी थे। स्वामीजी के देहान्त के बाद दोनों ने संथारा कर जन्म को सार्थक किया। ताराचन्दजी को ४१ दिन का और डूँगरसीजी को १० दिन का संथारा आया।

[२३] मुनि जीवोजी : आप तासूल निवासी थे। आपने बरल्याँ में दीक्षा ली। आप एक महान मुनि निकले। आप एक सरल और भद्र प्रकृतिके साधु थे।

आपने तीन आचार्यों की सच्चे मन से सेवा की और ऋषि रायचन्दजी के बरतारे में १८९० की साल में गोगुन्दा में अनशन कर देहावसान किया।

[२४] मुनि जोगीदासजी : आप बड़े ही जबरदस्त मुनि हुए। आपने स्त्री छोड़ कर दीक्षा ली थी। बचपन से ही आप बड़े वैरागी थे और यही देखकर स्वामीजी ने दीक्षा दी। आप केलवा के निवासी थे। आप अपने नाम की तरह ही एक सच्चे योगी थे। दीक्षा के थोड़े ही काल बाद शहर पीसागण में चौविहार संथारा (जिसमें सर्व प्रकार के आहार और जल का आजीवन त्याग हो) ठा दिया और सम्वत् १८५९ की साल में आत्मा का उद्धार कर, मनुष्य जन्म को सार्थक बनाया।

[२५] मुनि जोधोजी : आप केरड़ा ग्राम के निवासी थे। स्वामीजी ने स्वयं अपने हाथ से इन्हें दीक्षा दी थी। ये बड़े ही तपस्वी सन्त निकले। आपने आछ के आगार से ढाई मास की तपस्या की ओर कोचले ग्राम में ३८ दिन का संथारा कर स्वामीजी के देहान्त के बाद स्वर्गलोक सिधारे। स्वामी जोधोजी वास्तव में ही एक योद्धा थे, जिन्होंने कर्म-रूपी शत्रुओंको काटकर अपनी माताकी कोखको उज्वल किया।

(२६) मुनि भगजी : आप शहर खेरवा के निवासी थे। स्वामीजी ने आपको आपकी बड़ी बहिन की आज्ञा से दीक्षा दी। विनय गुण से आपकी बहुत शोभा हुई। आप जाति के वैद मुहता थे। आपने प्रथम तीन आचार्यों की बड़ी भक्ति-भाव से सेवा की। ऋषि रायचन्दजी के बरतारे में आप पण्डित-मरण प्राप्त हुए। आपका देहावसान सं० १८९९ में हुआ।

(२७) तपस्वी भोपजी : आप कोशीथल के वासी थे। आप जाति के चपलोत थे। आपको स्वामीजी ने पाली में दीक्षा दी। दीक्षा लेने के बाद ही आपने तपस्या करनी शुरू कर दी। धीरे २ चढ़ाते २ आपने ६६ और ६८ दिन तक की तपस्या की। एकबार चतुर्मासमें आपने केवल १७ पारणे ही किये। आपका देहान्त १८६६ की साल हुआ। आपको साढ़े चार पहर का संथारा आया।

स्वामीजी के शिष्यों का परिचय शेष हुआ। अब हम संक्षेप में आर्याओं का परिचय देते हैं :—

[१] सती कुशलांजीः आप सतियों में सबसे बड़ी सती थीं। आपने बड़े ही शुद्ध रूप से संयम का पालन किया। एक बार आप गुदोच में विराजती थीं। वहाँ एक जहरीले जानवर ने आपको डस लिया। आपने कोई उपचार नहीं करवाया और शान्त भाव से इस उपसर्ग को सहन किया। आपके परिणाम बड़े उच्च रहे।

[२] सती मटुजीः आप एक महान् सती थीं। आपने स्वामीजी की आज्ञा को शिरोधार्य कर आराधक पद पाया।

[३] सती सुजाणांजीः आप एक बड़ी निर्मल सती थीं। आपने शुद्ध चारित्र का पालन किया।

[४] सती देऊजीः आप भी एक पुण्यवान सती थीं।

[५] सती गुमानांजीः आपने अन्त समय में संथारा कर संयम को उज्वलित किया।

[६] सती कसुम्बाजीः आपने भी उदार—दीर्घ अनशन कर देह विसर्जन किया।

[७] सती जीऊजीः आपने अनेक पुत्रों को घर में छोड़ दीक्षा ली थी। आप रियाँ की निवासिनी थीं। दीक्षा लेने के थोड़े दिन बाद ही शहर पीपाड़ में संथारा कर आपने अपना कार्य सिद्ध किया।

[८] सती मैणांजीः आप पुर की निवासिनी थीं। आपने पति छोड़ कर दीक्षा ली थी। आप पढ़ लिख कर बहुत पंडिता हुईं—बहु सूत्रों की जानकार हुईं। आपने सं० १८६० की साल में संथारा किया।

[९] सती रंगुजीः आप श्रीजीद्वार की निवासिनी थीं। जाति की पोरवाल थीं। आपने सं० १८३८ में स्वामी खेतसीजी के साथ दीक्षा ली। आप ज्ञानी ध्यान में विख्यात थीं। आपका स्वर्गवास शिरीयारी में हुआ।

[१०] सती सदांजी: आप भी एक महासती थीं। आपकी जाति तलेसरा थी। आपका ग्राम श्रीजीद्वार था। आपने अन्त समय में संथारा कर आत्म-कल्याण किया।

[११] सती फुलांजो : आपने अपने अनेक पुत्रों को छोड़ दीक्षा ली। आपका ग्राम कंटालिया था। आपने लोढ़ोती में अनशन किया।

[१२] सती अमराँजो : आप एक उत्तम आर्या थीं। आपने अन्त समय में संथरा कर मनुष्य जन्म को जीत लिया।

[१३] सती तेजूजी : आप पोरवाल थीं। आपका ग्राम ढोलकम्बोल था। आपने दीक्षा के कुछ दिनों बाद ही संथारा ठा दिया। आपको ४२ दिन का संथारा आया।

[१४-१६] सती बगतुजी: आपका गांव बगड़ी था। आप, सती हीराँजी और सती नगांजी तीनों ने एक साथ दीक्षा ली थी। सं० १८४४ सालमें स्वामीजी ने दीक्षा दे, इन तीनों सतियों को सती रंगुजी को सौंप दिया। स्वामी भीखणजी के बाद तीनों सती संथारा कर परलोक सिधारीं।

[१७] सती अजबुजी: आप जयाचार्य को बूआ थीं। आपने १८४४ साल में चारित्र लिया। सम्वत् १८८८ में आप परलोक सिधारीं।

[१८] सती पन्नाँजी: आपका जन्म-स्थान शिरीयारी था। अन्त समय में संथारा कर आपने पंडित-मरण प्राप्त किया।

[१९] सती गुमानाँजी: आप एक महा गुणवान सती थीं। आपका ग्राम तासोल था। आप जीवोजी मुनि की बड़ी माँ थीं। आपने एक मास की तपस्या धारण की और फिर दो मास की तपस्या का विचार ठान लिया। आखिर में संथारे में आपका देहान्त हुआ।

[२०] सती खेमाँजी: आपका गांव बूंदी शहर था। आप जाति से सरावगी थीं। आपने खेरवे में सन्थारा ठान जन्म सुधारा।

[२१] सती रूपाँजो : आप साधु 'सतयुगी' की बहिन थीं और ऋषि रायचन्दजी

की मौसी। आपने पति और पुत्र दोनों को छोड़ दीक्षा ली। आपकी दीक्षा १८५२ को साल हुई और १८५७ में आपने संथारा किया। आप कुशलाँजी की छोटी बहिन थीं।

[२२] सती सरूपाँजीः आप जाति से अग्रवाल थीं। माधोपुर की रहने वाली थीं। आपने तीन पुत्रों को छोड़ कर दीक्षा ली और कंटालिया ग्राममें संथारा किया।

[२३] सती बरजुजीः आप बड़ी यशस्विनी सती थीं। आप बड़ी शीलवान और गुणवान सती हुईं। स्वामीजी ने आपका मान बहुत बढ़ाया। आपने बड़ी कीर्ति प्राप्त की।

[२४] सती बीजाँजीः आप बड़ी तपस्विनी थीं। अपने जीवनान्त में आपने बड़ा कठोर तप किया।

[२५] सती बनांजीः आप बड़ी विनयवान सती थीं। आपका चित्त बड़ा निर्मल था। आपने शुद्ध संयम का पालन कर, आत्मा को उज्वल किया। स्वामीजोने सती बरजुजी बीजांजी, ओर बनांजी तीनों को एक ही साथ प्रतिबोधित कर एक ही दिन दीक्षा दी। तीनों सतियाँ बड़ी ही सौम्य मुद्रा थीं। अन्तमें तीनों ने संथारा कर आत्म-कल्याण किया।

[२६] सती उदांजीः आप बड़ी उद्यमवान सती थीं। आप जातिकी सुनार थीं। आपने अनेक वर्षों तक चारित्र का पालन कर अन्त में आंवेट में संथारा कर अपने जन्म को सार्थक किया।

[२७] सती जुमांजीः आपकी जाति पोरवाल थी। आपका गाँव श्रीजीद्वार था। आपकी दीक्षा १८५६ में हुई। सं० १८६० की साल में स्वामीजी के देहान्त के बाद आपने संथारा कर देह-बिसर्जन किया।

[२८] सती हस्तुजीः आप जाति से लोहड़ा साजन थी। आपने पति और पुत्र को छोड़ दीक्षा ली। आप लखपति घराने की थीं। आपके घर वालों ने आपको बहुत दुःख दिया, परन्तु आप दीक्षा लेने के विचार में अडिग रहीं। आपको सं० १८९७ में संथारा आया।

[२९] सती कुशलाँजीः आपका गाँव रावलियां था। आप साधु खेतसीजी की बहन और ऋषि रायचन्दजी की माता थीं।

[३०] सती कस्तुराँजीः आप हस्तुजी की बहिन थीं। आपने भी पति और पुत्र छोड़कर दीक्षा ली। आपने १८७७ की साल में उज्जैन में संथारा किया।

[३१] सती जैतांजीः आपने लाहवा में दीक्षा ली। आप बड़ी ही वैराग्यवान सती थीं। आपने पति को छोड़ कर दीक्षा ली थीं।

[३२] सती नौराँजीः आपका गाँव शिरीयारी था। आप ने भी पति छोड़ दीक्षा ली। आपने १८७२ साल में सन्थारा कर जन्म सार्थक किया।

उपरोक्त पाँचों सतियों ने अर्थात हस्तुजी, कुशलाँजी, कस्तुराँजी, जैतांजी और नौराँजी—सबने अपने अपने पति छोड़ एक साथ दीक्षा ली थी। पांचों ही बड़ी वैराग्यवान थीं।

[३३] सती कुशलाँजीः आपने १८७७ में संथारा किया और माधोपुर में कार्तिक मास में परलोक-वास किया।

[३४] सती नाथांजीः आप एक धनवान घराने की थीं। आपकी प्रकृति बड़ी निर्मल और सरल थी। आपने जसोल में संथारा किया।

[३५] बिजांजी ने ३२ दिन की तपस्या की और अन्तमें आपको तीन दिन का संथारा आया। आप सं० १८८६ में स्वर्गलोक सिधारीं।

[३६] सती गोमाँजीः आपकी दीक्षा सं० १८५९ में हुई थी। आप ऋषि सरूपरामजी, भीमजी और जीतमलजी की संसार लेखेसे काकी थीं।

(३७) सती जशोदाजीः आपका गांव खेरवा था। आप भी बड़ी गुणवान सती थीं।

(३८) सती मांहीजी

(३९) सती नोजांजी

स्वामीजी के पास कुल ५६ महिलाओं ने दीक्षा ली, जिनमें से १७ अलग हो गईं और ३९ साध्वियाँ गण में शुद्ध रीति से रहीं।

साधु-साध्वियों की उपरोक्त प्रव्रज्या-संख्या से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि जिन-शासन के उद्धार के लिए स्वामीजी ने कितना प्रबल पुरुषार्थ किया था और अन्त तक उन्हें कितनी महान सफलता प्राप्त हुई थी।

स्वामीजी ने अपने पीछे मूलागम अनुसार निर्दोष साधुव्रत पालन करनेवाले आत्मार्थी साधु-साध्वियों का एक बृहद् समुदाय छोड़ा। इस समुदाय में धुरन्धर विद्वान्, महान तपस्वी, असाधारण तत्वज्ञानी और आत्मज्ञ साधु-साध्वियाँ थीं।

स्वामीजी के श्रावकों में विजयचन्द जी पटुआ, कवि महेसदास जी, कवि शोभजी, टीकमजी डोसी, गेरूलालजी व्यास के नाम प्रसिद्ध हैं।

—स्वामीजी के जीवन-चरित्र की सामग्री—

स्वामीजी का जीवन-चरित्र पहले-पहल मुनि श्री वेणीरामजी ने लिखा, जो स्वामी जी के एक प्रज्ञावान शिष्य और सम-सामयिक साधु थे। यह संक्षिप्त जीवन-चरित्र स्वामीजी के स्वर्गवास के कुछ ही समय बाद लिखा गया था। इसमें १३ ढालें हैं। यह जीवन-चरित्र छप भी चुका है।

स्वामीजी के देहान्त के बाद उस समय के अन्य विद्वान संतोंने भी उनके गुणगान में ढालें आदि जरूर रची होंगी—ऐसा हमारा अनुमान है। ऐसी ढालों के संग्रह से स्वामीजी के जीवन के अनेक पक्षों पर प्रकाश पड़ेगा। ऋषि हेमराजजी ने भी स्वामीजी का एक जीवनचरित्र लिखा था—ऐसा उल्लेख "भिक्षु जश रसायन" नामक काव्य के उपसंहार में मिलता है। हम इस चरित्र को अभी तक देख नहीं पाए हैं। स्वामीजी के संस्मरण और दृष्टान्तों का संकलन भी उनकी एक महान देन है। इस संकलन में स्वामीजी के जीवन के संस्मरण संगृहीत हैं और उनसे स्वामीजी के जीवन-चरित्र की प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है। उनमें से अनेक दृष्टान्तों और संस्मरणों का इस जीवन-चरित्र में उपयोग किया गया है। स्वामीजी का एक विस्तृत और बहुत ही उच्च कोटि का काव्यमय जीवन-चरित्र चतुर्थ आचार्य श्रीमद् जयाचार्य ने लिखा है। यह जीवन-चरित्र "भिक्षु-यश-रसायन" नाम से प्रसिद्ध है

और मारवाड़ी भाषा में है। यह नागरी और गुजराती लिपि में छप चुका है। इसमें कुल ६३ ढालें हैं। प्रत्येक ढाल रागिनी पूण काव्य में है और उसके पूर्व में दोहे देकर उस ढालमें आनेवाले विषय का आभास दिया है। इसे पढ़ते ही आत्मा आनन्द-विभोर हो जाती है। यह ग्रन्थ श्रीमद् जयाचार्य की अद्भुत काव्य-शक्ति का बड़ा ही सुन्दर परिचय देता है।

"भ्रमविध्वंसनम्" नामक पुस्तक के द्वितीय संस्करण की भूमिका में दिया हुआ संक्षिप्त जीवन-परिचय ही शायद हिन्दी में स्वामीजी का पहला जीवन-चरित्र है। "ओसवाल नवयुवक" मासिक पत्र के वर्ष ९ अङ्क ८ में लेखक द्वारा लिखी एक संक्षिप्त जीवनी प्रकाशित हुई थी।

"श्रीमद् आचार्य भीखणजी के विचार रत्न" नामक पुस्तक के उपोद्घात में लेखक द्वारा स्वामीजी के जीवन का कुछ विस्तार से परिचय दिया गया है।

स्वामीजी की जीवनी उनके निजी साहित्य में काफी मात्रा में छिपी पड़ी है। यदि स्वामीजी की समस्त कृतियों को संगृहीत किया जाय तो स्वामीजी के दृष्टान्तों और सुन्दर प्रवचनों का एक महान् संग्रह उपलब्ध हो सकता है।

श्रावक शोभजी की कई रचनाओं से स्वामीजी के जीवन के कई पहलुओं पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है। उनकी सारी कृतियाँ उपलब्ध नहीं। स्वामीजी की जीवन-सामग्री की दृष्टि से भी उनका संगृहीत होना जरूरी है।

श्रीमद् जयाचार्य की कई फुटकर ढालों में स्वामीजी के लिखत और मर्यादाओं का वर्णन आया है। भिन्न २ मर्यादा महोत्सव पर लिखी उन की ढालों में अवश्य ही स्वामीजी के जीवन की प्रचुर सामग्री है। "कालवादी की चौपाई" में स्वामीजी के सुन्दर दृष्टान्त निहित हैं—ऐसा श्री जयाचार्यने एक जगह उल्लेख किया है। मिथ्यात्वीकी करणी पर भी अनेक दृष्टान्त तद्विषयक ढालोंमें हैं। "पोत्या बध" और "प्रज्यावादी" की ढालों में भी अनेक दृष्टान्त हैं। टीकम डोसी और स्वामीजी के बीच सूक्ष्म प्रश्नोतर में से अनेक सामग्री प्राप्त हो सकती है।

स्वामीजी की कई अमूल्य धर्म-कथाएँ दृष्टान्त और जीवन-प्रसंग शायद अब तक अलिखित ही हैं और गुरु-परम्परासे केवल स्मृति के विषय हैं और केवल सुन कर ही जाने जा सकते हैं। पूज्यपाद आचार्य महाराज तथा अन्य संतों की सेवा से ऐसी काफी सामग्री इकट्ठी की जा सकती है।

खण्ड २

जीवन-विश्लेषण

: १ :

स्वामीजी के जीवन की पृष्ठ-भूमिका

—आरोप और उसका हेतु—

स्वामीजी पर जो सबसे बड़ा आरोप लगाया जाता है, वह यह हैः "उन्होंने भगवान महावीर के वचनों को उलट दिया। उन्होंने जैन-शास्त्रों से प्रतिकूल आचार-विचार का प्रचार कर एक विचित्र और अजीब मतकी स्थापना कर दी। वे एक ऐसे मतवाद के सृष्टा हैं जिसका मेल दुनियाँ के किसी धर्म के साथ नहीं खाता। उनके मतवाद में जैनधर्म का लवलेश भी नहीं।" पर जब हम स्वामीजी के विचारों पर धीर चित्त से ध्यान देते हैं तो उपरोक्त आक्षेपों में सत्य का अंश भी नहीं दिखाई देता। वास्तव में, स्वामीजी ने किसी नये धर्म की स्थापना नहीं की, उन्होंने जिन-धर्म का ही उद्धार किया।

जैनधर्म आध्यात्मिक संस्कृति-प्रधान एक महान् धर्म है। आत्मिक उन्नति ही उसका परम लक्ष्य है। गहरे तत्वज्ञान का वह महान् भण्डार है। आत्म-विकास के उसमें अपूर्व साधन हैं। सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चार साधनों पर ही उसकी नींव डाली हुई है। एक समय था, जब यह धर्म अपनी चरमोन्नति पर था। परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया, राजकीय सत्ताओं में परिवर्तन उपस्थित हुए और उसके साथ-साथ अन्य धर्मों ने जोर पकड़ा वैसे-वैसे जैन-धर्म की अवनति होती गई और ऐसे विचारों को अपनाना जरूरी समझ लिया गया, जो जैन-धर्म के मौलिक न होते हुए भी जमाने के विरोध से त्राण पाने के लिए अक्षय कवच से मालूम दिए। विचारों के साथ-साथ आचार में भी समय-समय पर परिवर्तन और शिथिलता आई और अन्त में सैकड़ों बर्षों के बाद जैन-धर्मके आचार-विचार का ऐसा स्वरूप बन गया जो उसके आदि और मूल स्वरूप से सर्वथा भिन्न पड़ता था। जब

स्वामीजी का एक क्रांतिकारी आदर्श साधु के रूप में प्रादुर्भाव हुआ तब जैनधर्म की प्रायः ऐसी ही अधःपतित अवस्था थी। स्वामीजी ने जैन-धर्मके पुनरुद्धार का बीड़ा उठाया। आठ वर्ष के दीर्घ और गम्भीर शास्त्रीय चिन्तन और मनन के बाद उन्होंने शुद्ध जैन-धर्म को प्राप्त कर उसे जनता के सम्मुख रखा। सैकड़ों वर्षों से एक खास प्रकारकी विचार-धारा की आदी जनता इस अद्भुत प्रकाश को कैसे सहन करती? आचार-विचार में शिथिल गुरु-परम्पराका स्वार्थ स्थिति-पालकता में ही था। स्वामीजी की विचार-धाराको जैन-धर्म की असली—आदि भाव-धारा स्वीकार करना उनके लिए जैसे अपने गौरव को मिट्टी में मिलाना था। सम्मान-अपहरणकी भावना महाभय को पैदा किए हुए थी।

जब सैकड़ों, हजारों वर्षों के बाद कोई महापुरुष पैदा होकर हमें शुद्ध-जीवन का संदेश देता है, तो हम एकाएक उसे सहन नहीं कर सकते। उस समय अपनी भूलको स्वीकार करना सबसे बड़ी घातक भूल मालूम देती है। हम इसी बात को सिद्ध करने में अड़ जाते हैं कि हमसे कोई भूल हुई ही नहीं, हम सत्पथ पर ही हैं। हमारा तर्क होता है कि हमारी आचार-विचार-धारा वही है जो परम्परा से चली आ रही है। अमुक तो एक नई और विचित्र बात को लेकर आया है जो हमारी अच्छी पुरानी परम्परा को नष्ट-भ्रष्ट करना चाहता है। इस तरह स्वार्थी नेता उस शुद्ध प्रकाशमयी विचार-धारा की लगती हुई नवीनता को ही विरोध का एक जबरदस्त शस्त्र बना लेते हैं और प्राचीन के प्रति मोह-भावना को जागृत कर नवीन के प्रति विरोध का दावानल सुलगा देते हैं। स्वामीजी के प्रति भी ठीक ऐसा ही हुआ। उनकी शुद्ध—जैन धर्ममयी—विचार-धारा को नवीन और विचित्र शब्दों से घोषित कर उनके प्रति विरोध का तीव्र वातावरण पैदा कर दिया गया। श्रावकों को धर्म के असली तत्व नहीं बतलाए जाते थे। आचार और विचार में जो शिथिलता आ गई थी उसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अनुवर्ती बतलाकर अनेकान्तवादी जैन-धर्म की विशिष्टता सिद्ध कर दी जाती थी। अपने अस्तित्व और

प्रभाव को कायम रखनेकी स्वार्थपूर्ण भावना ने ही स्वामीजीके मतको एक विचित्र मत के रूपमें अंकित करवाया और उन्हें 'निन्हव', 'एक नये पीर', और 'एक नये पैगम्बर' की उपाधि दिलवाई।

—संस्थापक नहीं उद्धारक—

पर स्वामीजी न कोई नये पीर थे, न कोई पैगम्बर। वे एक महान् सेवक थे। मानो वे जैन-धर्म की सेवा करने के लिए ही जन्मे हों। उनके जीवन का एक-एक पल इस धर्म के उद्धार के लिए लगा। वे तो जैसे भूले हुए सन्देश को याद कराने के लिए ही आए हों। वे एक भूली हुई चीज की ताजी स्मृति थे। वे स्वयं दीप-शिखा नहीं परन्तु बुझती हुई दीप-शिखा के प्राण थे। जैन-धर्म के बुझते हुए चिराग में उन्होंने अपना जीवन-स्नेह अर्पित कर उसे पुनः प्रज्वलित किया। वे एक कृषक नहीं, कृषि-रक्षक थे। उन्होंने खेत को उजड़ने से बचाया और उसे हराभरा रखा। ऐसी हालत में स्वामीजी को 'नये पीर' और 'नये पैगम्बर' की उपाधि देकर कोई उनका उपहास भले ही करे, परन्तु वह वास्तविक परिस्थिति को सामने नहीं रखता।

स्वामीजी जैन-धर्म के अनन्य भक्त थे। भगवान के वचनों के वे अद्वितीय पुजारी थे। जिन-वचनों में उन्हें अगाध श्रद्धा थी। वे जगह-जगह कहते हैं— "जिन भगवानका धर्म सौटंच सोना है।" "भगवान की शरण में महती शक्ति है।" "भगवान का मार्ग राजमार्ग है। वह कोई पगडंडी नहीं, जो बीच ही में रुक जाय। वह तो सीधा मोक्ष का मार्ग है।" "जो जिन-आज्ञाके बाहर धर्म बतलाते हैं, वे अंधेरे को सूर्य-प्रकाश कहते हैं।" "जैन-धर्म" के प्रति ऐसी उदार मनोभावना रखनेवाले महापुरुष किसी नये धर्म के प्रचार की कल्पना ही कैसे कर सकते? उन्होंने एक पैगम्बर की तरह कभी नहीं कहा कि दुनियाके लिए उनके पास एक नया संदेश है। उन्होंने कभी घोषणा नहीं की कि दुनिया को उन्हें एक नई देन देनी है। परन्तु उनकी पुकार एक उद्धारक की पुकार थी। वह एक

अंतरंग सेवी की अन्तर्नाद थी। वे कहते—"भगवान के साधु और श्रावक कहलाकर अनीति के मार्ग पर क्यों चलते हो ? भगवान के नामपर इस पाखंड और ढोंगका पोषण क्यों करते हो ? भगवान ने साधु उसे ही कहा है, जो आत्माकी साधना करे। प्रभु के अनुशासनानुसार स्वच्छ आचार-विचार का पालनकर आत्मिक उन्नति की साधनामें जीवन बिताओ। भगवान का आश्रय बड़ा उदार है। उसकी शरण में आकर अनीति नहीं करनी चाहिए।"

गीताका 'संस्थापनार्थाय' नहीं 'उत्थानाय' ही उनके लिए ठीक बैठता है। वे एक उद्धारक थे, संस्थापक नहीं। उनके जीवन का कार्य सृजन नहीं—उत्थान था। स्वामीजी के जीवन में ऐसी अनेक घटनाएँ घटी हैं जो साफ प्रगट करती हैं कि उन्होंने कोई नई कल्पना नहीं की। किसी नई विचार-धारा व धर्म का सृजन नहीं किया, परन्तु जैन-धर्म को मौलिक आचार और विचार-धाराको पुनः जीवित कर उसमें नव-चेतना का संचार किया। हम यहाँ ऐसी कुछ घटनाओंका उल्लेख करते हैं।

—अन्तर-भावना के स्फुट चित्र—

स्वामीजी के अनुयायी साधु और श्रावकोंकी संख्या शुरू-शुरू में केवल तेरह थी इसलिए उनके अनुयायियों का नाम "तेरा*पंथी" रख दिया जाता है। स्वामीजी जब यह सुनते हैं तो कहते हैं —" हे प्रभु! हमें तो तेरा ही मार्ग अच्छा लगता है, इसलिए हम भले ही 'तेरापंथी' कहलाए। हमारा मार्ग तेरा मार्ग नहीं है तो किसका मार्ग है ? " नाम-संस्करण की यह घटना स्वामीजी के जीवनकी पृष्ठ-भूमिका पर कितना सुन्दर प्रकाश डालती है! भगवान की भक्ति में वे कितने भीने हुए हैं, जैन-धर्म उन्हें कितना अच्छा लगता है-- इसका स्फुट चित्र इस घटना में है।

दूसरी घटना इस प्रकार है :—स्वामीजी जनतामें जैन-धर्म के असली स्वरूप को फैलाना चाहते हैं, परन्तु नव-दीक्षा के बाद उन्हें बड़ा कटु अनुभव होता है। लोग

*—'तेरह' शब्द का मारवाड़ी पर्यायवाची शब्द 'तेरा' है।

इतने पथभ्रष्ट हो चुके हैं कि शुद्ध-जीवन का उपदेश भी उन्हें असह्य होता है। श्रोता के बिना धर्म किसको सुनाया जाय? ऐसी हालत में जैन-धर्म के उद्धार का कार्य स्वामीजी को असंभव-सा लगने लगता है। उनके हृदय में निराशा की-सी लहर छा जाती है और धर्म-प्रचार के विचार से मन मोड़, वे मौन चिन्तन—आत्म-साधना-करने लगते हैं। इस निराशा के समय वे एक ढाल जोड़ते हैं जिसे 'जैन-धर्म के विखे की ढाल' कहते हैं। इस ढालमें भगवान महावीर की स्तुति करते हुए स्वामीजीने उसके शेषांशमें अपनी आत्म-वेदना को भगवान महावीरके सम्मुख इस प्रकार रक्खा है :—

"भगवन्! आज भारत में कोई केवलज्ञानी नहीं। १४ पूर्व का ज्ञान आज विच्छेद हो चुका। आज कुबुद्धि कदाग्रहियों ने जिन-धर्म में बड़ा अन्तर डाल दिया है। उच्च राजा-महाराजा जैन-धर्म छोड़ चुके हैं। आज तो साधु के भेषमें केवल पाखंड है। हे प्रभु! आज जैन-धर्म बड़ी विपदा में है। आज इस धर्म के अनुयायियों में एक भी राजा नहीं। आज तो केवल ज्ञान-रहित भेषकी वृद्धि हो गई है। इन भेष-धारियों की भिन्न-भिन्न श्रद्धा है और भिन्न-भिन्नि आचार। ये द्रव्य लिंगी हैं—भेष से साधु हैं। इन नाममात्र के साधुओं ने अपनी पेट-पूर्ति के लिए अन्य दर्शन और धर्मों की शरण ले ली है। इन्हें किस तरह सुमार्ग पर लाया जाय? ये तो परस्पर ही श्रद्धा—आस्था—को उठाते फिर रहे हैं। इनकी श्रद्धा—विचार धारा—का कोई सिर-पैर नहीं। जब इन्हें न्यायकी बात कही जाती है तो परस्पर झगड़ते रहने पर भी एक होकर झूठ बोलने लगते हैं। इन्हें विप-रीत—अण्ट-सण्ट बोलने में जरा भी संकोच नहीं होता।

' हे प्रभु! आपने उत्तराध्ययन सूत्र में सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप को ही मुक्ति का मार्ग बतलाया है। मैं इन बातों के सिवा और किसी में धर्म नहीं मानता। मैं तो अरिहंत भगवान ही को देव, निर्ग्रन्थ गुरु ही को गुरु औरआप केवली भगवान द्वारा बतलाए धर्म को ही धर्म समझता हूँ। मेरे लिए और सब भ्रमजाल

है। मैं इन तत्वों को ही सच्चा समझता हूँ और उन्हीं का शरणार्थी हूँ। इन तीन तत्त्वों में ही आपकी आज्ञा है और आपकी आज्ञा को ही हे प्रभु! मैं प्रमाण मानता हूँ। मेरी आत्मा इन्हीं भावनाओं से धर्म-ध्यान में रम रही है। आपकी आज्ञा-पालन में मुझे परमानंद है। हे प्रभु! मेरे तो आप ही आधार हैं और सूत्रों—आपके वचनों—ही की मुझे प्रतीति है।"

उपरोक्त उद्‌गारोंमें भगवान के प्रति स्वामीजी को अनन्य भक्ति—अगाध श्रद्धा उछालें मार रही हैं। मीराबाई कहती है—"मेरे तो गिरधर गोपाल और दूसरो न कोई।" स्वामीजी कहते हैं, "मुझे तो भगवान महावीर ही का आधार है और किसी का नहीं।" मीराबाई कृष्ण की अनन्य भक्त थी, वैसे ही स्वामीजी भगवान महावीर के अनन्य भक्त थे। उन्हीं की शरण उन्हें प्रिय थी और उन्हींका मार्ग। उनके लिए जिन-आज्ञा ही धर्म की कसौटी और उसका पालन ही जीवनका परमानन्द था।

यह आकर्षण क्यों?

काली अँधेरी रातमें से उषाका उदय होता है, उसी तरह स्वामीजीके जीवन की निराशा में से आशा का संचार हुआ। धीरे-धीरे उनके आचार-विचार का प्रभाव बढ़ता गया और कुछ वर्षों के बाद उनके अनुयायियों की संख्या भी काफी हो गयो। अब स्वामीजी से, जगह-जगह के लोग, आ-आकर अपने २ गाँव पधारने की, विनतियाँ करने लगे।

एक बार बिहार करते-करते स्वामीजी केलवा नामक गाँव पधारे। वहाँ के ठाकुर मोहकमसिंहजी स्वामीजी के दर्शन करने आए। धर्म-परिषद् लगी हुई थी। उन्होंने जनता के सामने ही स्वामीजी से प्रश्न किया—"स्वामीजो! आपके पास गाँव-गाँवकी प्रार्थनाएँ आती हैं। आप को सभी स्थानों के लोग चाहते हैं। स्त्री-पुरुष सब को आप प्रिय हैं। आपको देखकर उनके हर्ष का पारावार नहीं रहता। आपमें ऐसा कौन सा गुण है, जिससे यह आकर्षण है?"

स्वामीजी ने जवाब दिया: "एक पतिव्रता सेठानी थी। उसका पति परदेश था। बहुत दिनोंसे उसके समाचार नहीं आए, इससे वह बड़ी चिंतित होकर बैठी थी। हटात् उसी समय पति के यहाँ से एक कासीद — समाचार-वाहक आया। वह सेठानीको उसके पति के समाचार बताने लगा। इससे वह बड़ी ही हर्षित हुई और अपने पतिके सम्बन्धमें नाना समाचार पूछने लगी। ज्यों २ वह नए समाचार सुनती त्यों २ अधिक हर्षित होती। उसने उस कासीदकी बड़ी खातिर की। वियोग-व्यथिता सेठानी का कासीदके आने और पतिके समाचार सुनानेसे हर्षित होना और उसकी खातिर करना स्वाभाविक है। कासीद निर्गुण था फिर भी पतिके समाचारों का वाहक होने से पतिव्रता सेठानी का वह अत्यन्त प्रीतिभाजन हुआ। हम भगवान के संदेश-वाहक हैं और पाँच महाव्रत के धारक होनेसे सगुण — यथातथ्य-साधु हैं। हम भगवान् के भक्त हैं। उनकी गुण गरिमा करते हैं। लोगों को आत्मिक शाँति और सुख का संदेश पहुँचाते हैं। हम नर्क के दुःख टल जाँय — ऐसी बातें बतलाते हैं। इसलिए धर्मप्रिय सभी लोगों के हम श्रद्धास्पद हैं। प्रभुके संदेशवाहक और प्रतिनिधि होने के नाते ही ये विनतियाँ--प्रार्थनाएँ--हैं। इसका और कोई दूसरा रहस्य नहीं।"

स्वामीजी का व्यक्तित्व बड़ा ही सजीव था। उसमें एक चुम्बकका-सा आकर्षण था। उनकी वाणी में जादूका-सा असर था। परन्तु इस प्रभाव के मूलमें स्वामीजी अपनी कोई विशेषता नहीं समझते थे। भगवान के कासीद—उनके संदेशवाहक—होने से ही उनके व्यक्तित्वमें वह ताकत आई थी, इसे उन्होंने उपरोक्त उत्तरमें स्पष्ट किया है। वे भगवान के सगुण—यथातथ्य—साधु थे और यदि उनके प्रति किसी को कोई आकर्षण है, तो उसका कारण यही समझना चाहिए—यह उन्होंने उपरोक्त उत्तर में निःसंकोच भावसे व्यक्त कर दिया है। जैसे प्रपात की धारा का वेग, उसका कलकल निनाद

और प्रवाह उस पर्वत की ऊँचाई और पीछे के जल-संग्रह पर निर्भर करता है, जिससे वह वहिर्भूत होता है, उसी तरह स्वामीजी मानते थे कि उनकी सफलता, प्रतिष्ठा और सन्मान—सब कुछ भगवान् के धर्मकी महत्ता और उसकी अनुपमता पर ही आधारित है। वे एक पुजारी थे—पुरोहित थे—जो सब कुछ भगवान के चरणों पर भेंट कर चुके थे। भगवान महावीर ही स्वामीजीके आराध्य देव थे और उनकी आज्ञा का पालन ही उनके जीवनका श्वासोच्छ्वास। मानो वे अहर्निश प्रार्थना करते थे:

"मेरे जीवन में दो बातें न घटें—भगवान की आज्ञाके बाहरके कार्यों में उद्यम और भगवान् की आज्ञा के कार्यों में आलस्य।"

अन्तिम समय के दो स्फुट चित्र

स्वामीजी ने अपने जीवन के अंतिम दिनों में अपने शिष्यों को जो धर्म-प्रवचन दिया, उसका सार हम पीछे दे आए हैं। स्वामीजी अपने अन्तिम प्रवचन में भी जिन-आज्ञा के अक्षुण्ण पालन का उपदेश देना नहीं भूलते। जिन-आज्ञाको लोप कर स्वच्छन्द विचरनेवालों के लिए संघमें कोई स्थान नहीं—इस बातको अन्तिम उपदेश में भी अपने शिष्यों के हृदय पर अंकित कर देना वे अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं। एक ओर उन्हें इस जीवन का छोर-अंत दिखाई दे रहा है और दूसरी ओर वे कहते हैं—"मेरे मनमें परमानन्द है। मैं पूर्ण आत्मिक समाधिका अनुभव कर रहा हूँ। अब मेरे मनमें कोई बात नहीं रही।" इस परम संतोष और आत्म-समाधिका कारण उनके—"मैं जिन-शासन का उद्धार कर सका उसे उज्ज्वलित कर सका"—शब्दों में साफ प्रस्फुटित होता है।

जिन भगवानकी आज्ञा है:

जं किंचुवक्कमं जाणे आउक्खेमस्स अप्पणो।
तस्सेव अंतरा खिप्पं सिक्खं सिक्खेज्जा पंडिए॥

"जब अपनी आयु का क्षय-काल दिखाई दे तो पहले से ही संलेषना-रूप शिक्षा को ग्रहण करे।"

स्वामीजी को मालूम होने लगा की उनका शरीर ढीला पड़ गया है। उनके मनमें अधिक दिन जीनेका भरोसा नहीं रहा। अपने शरीरकी यह दशा देखते ही जैसे उन्हें उपरोक्त आज्ञाका स्मरण हो आया। वे मृत्यु का सामना करने के लिए तुल गये—अपश्चिम मरणान्तिक संलेषना की तैय्यारी में लग गये। अंतमें भक्त-परिज्ञा—अन्नपानी दोनों का त्याग कर स्वेच्छा से जीवनको शरीरसे अलग कर दिया। एक मृत्युञ्जय योगी की तरह देह-त्याग कर जिन-आज्ञा की आराधना की।

भगवान की आज्ञा उनके लिए कितनी महान् चीज थी। जिन-आज्ञाका पालन पहले होना चाहिए—जीना पीछे। जिन-आज्ञा के अनुसार जीना हो सके तो ही जीना चाहिए—यह उनके जीवनका महान् सूत्र था। अपने समग्र जीवनमें उन्होंने इस सूत्र और सिद्धान्तको अखण्ड और अक्षुण्ण रखा। भगवानने कहा है—"कायस्स वियाघाए संगामसीसे वियाहिए"—"स्वेच्छा देहत्याग संग्राम का सबसे बड़ा मोरचा है।" स्वामीजीने इस मोरचे पर भी विजय प्राप्त की। "अवि हम्ममाणे फलगावयट्ठि कालोवणीते, कंखेज्ज कालं जाव सरीर भेओ" "अंतकाल में अकम्पित रह, एक काष्ठ के टुकड़े की तरह शांत अचल रहकर शरीर-पात पर्यंत प्रसन्न चित्तसे मृत्यु-कालकी प्रतीक्षा करे।" स्वामीजी के अंतिम जीवन पर दृष्टिपात करने वाले देख सकेंगे कि उन्होंने इस आज्ञा को किस तरह शिरोधार्य किया। स्वामीजी का देहावसान अनशन और शान्त ध्यान-मुद्रा में हुआ।

जीवन का ध्रुवपद

स्वामीजी के जीवन रूपी महान् ग्रंथ के पृष्ठों पर दृष्टि डालिए। उसमें एक ही रस मिलेगा—जिन भगवान की पूजा और जिन भगवान की अर्चना। भगवान के प्रति अखण्ड श्रद्धा और अगाध भक्तिभाव। जिन-आज्ञा की श्रेष्ठताका प्रतिपादन, पग-पग पर जिन-आज्ञा की सार-सम्हाल, श्वासोच्छ्वास में जिन-आज्ञा पर बलिदान हो जाने की वीर प्रतिज्ञा। वे कटु होते हैं—आलोचना करते हैं—लोगों की मूढ़ता पर उन्हें थकान आती है—परन्तु सब जगह एक अमूल्य धागा दृष्टि गोचर होता है। उनके सब आचार-विचार जिन भगवानके श्रद्धा रूपी रेशमी धागे में पिरोये हुए दिखाई देते हैं। उनके जीवन रूपी महान् ग्रंथ का आदि, मध्य और अन्तिम मंगल एक ही मालूम देता है—और वह है—जिन-आज्ञा का चिन्तन, मनन और उसके अनुसार आजीवन वर्तन। जिन-आज्ञा उनके जीवन का ध्रुवपद है, वही उसकी मधुर तान है, और वही उनके जीवन-दिशाका संचालक यन्त्र। जैसे रथ के पहिए धुरा पर घूमते हैं उसी तरह स्वामीजी का जीवन-चक्र भगवान की आज्ञा-रूपी धुरापर घूमता था। वे एक जगह कहते हैं :

जिण ओलख लीनी आपरी आगन्या
ओलख लीधी आपरी मौन हो ।स्वा०
तिण आपने पिण ओलख लिया
तिणरे टलसी माठी माठी जून हो ॥ स्वा० हू० ॥
जिण आज्ञा नवि ओलखी आपरी
ओलखी नवि आपरी मौन हो ।स्वा०।
तिण आपने पिण ओलख्या नवि
तिणरे बन्धसी माठी-माठी जून हो ॥ स्वा० हू० ॥
आप अवसर देखने बोलिया
आप अवसर देखी साझी मौन हो। स्वा०।

जिहाँ आप तणी आगन्या नवि
ते करणी छै जाबक जबून हो ॥ स्वा० हू० ॥

"जिसने आपकी आज्ञा और मौनको पहचान लिया उसने आपको भी पहचान लिया। उसकी अधम गति टल गई।

जिसने आपकी आज्ञा और मौन को नहीं पहचाना, उसने आपको भी नहीं पहचाना। उसके अधम-योनि का बंध होगा।

आप अवसर देखकर बोले। आपने अवसर देखकर मौन धारण किया। जिस कार्य में आपकी आज्ञा नहीं वह बिल्कुल जघन्य है।"

—धर्म-अधर्म का नीर-क्षीर विवेक—

एक ढाल में स्वामीजी ने बतलाया है कि किन किन कार्यों में जिन-आज्ञा है और किन-किन में नहीं। जिन कार्यों में स्वामीजीने जिन-आज्ञाको प्रमाणित—सिद्ध किया है, उनमें से एक भी कार्य आपको विचित्र या अजीब नहीं दिखाई देगा और न जिन कार्योंमें स्वामीजीने आज्ञाका अभाव बतलाया है, उनमें कोई ग्रहणीय। स्वामीजी को अच्छी तरह समझा जा सके, इसलिए हम उस ढ़ाल का भावार्थ यहाँ देते हैं:

१—संसार में कार्य दो प्रकार के हैं; एक अधर्म कार्य और दूसरे धर्म कार्य। धर्म कार्यों में जिन भगवान की आज्ञा है। अधर्म कार्यों में नहीं है। परमार्थ में जिन-आज्ञा है, अनर्थ में जिन-आज्ञा नहीं।

२—सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चार मोक्ष मार्गों में भगवान की आज्ञा है इनके विपरीत कु ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपमें नहीं।

३—सर्व व्रत और देश व्रत, जो क्रमशः साधु और श्रावक के धर्म हैं, उनमें जिन-आज्ञा है। व्रतों के उपरांत जो अधर्म—पाप—है उसमें जिन-आज्ञा नहीं।

४—सर्व मूल-गुण और सर्व उत्तर-गुण तथा देश मूल-गुण तथा देश उत्तर-गुण—इन सब गुणों में जिन-आज्ञा है। गुणहीनता में आज्ञा नहीं।

५—संवर के बीस भेद, जिनसे नए कर्मों का संचार रुकता है, और निर्जरा

बारह भेद, जिनसे संचित कर्म झड़कर दूर होते हैं, जिन-आज्ञा में हैं। संवर और निर्जरा के सिवा सब कर्तव्य सावद्य—पापपूर्ण—हैं और उनमें आज्ञा नहीं है।

६—धर्मध्यान और शुक्लध्यान भगवान की आज्ञा में हैं; आर्त्त और रौद्र—ये दो हेय ध्यान आज्ञा में नहीं।

७—शुभ परिणाम और शुभ अध्यवसाय आज्ञामें हैं; बुरे परिणाम और बुरे अध्यवसाय नहीं।

८—तेजो, पद्म और शुक्ल ये तीनों शुभ लेश्याएँ आज्ञा में हैं। कृष्ण, नील और कापोत ये अशुभ लेश्याएँ आज्ञा में नहीं।

९—मन-वचन-काया के शुभ योग—व्यापार—में जिन-आज्ञा है। बुरे योगों में नहीं।

१०—मन, वचन और काया से त्रिविध हिंसा न करने को दया कहा है और सुपात्र को देना दान। दया और दान—मोक्ष के इन दो मार्गों में भगवान की आज्ञा है। हिंसा और कुदान में नहीं।

११—उपकार दो प्रकार के हैं। एक आत्मिक उपकार और दूसरा सांसारिक उपकार। आत्मिक उपकार में आज्ञा है। सांसारिक उपकार में नहीं।

१२—अरिहंत भगवान को देव कहा है। निर्ग्रंथ साधु को गुरु और केवली भगवान द्वारा भाषित सिद्धान्तों को धर्म। शुद्ध देव, गुरु और धर्म की आराधना में जिन-आज्ञा है। कुदेव, कुगुरु, और अधर्म की आराधना में नहीं।

१३—चार बातें मंगल रूप हैं, चार बातें उत्तम और चार बातें शरणरूप। इनमें प्रभु की आज्ञा है। इनके सिवा कोई बात मंगल, उत्तम और शरणरूप नहीं। और उनमें जिन-आज्ञा नहीं।

१४—संयम, ब्रह्मचर्य, कल्प्य आचार, धर्मक्रिया, सम्यक्त्व, सत्बोध और सन्मार्ग में जिन-आज्ञा है। उनके विपरीत असंयम, कुशील, अकल्प्य आचार, अज्ञान, पापक्रिया, मिथ्यात्व, अबोध और उन्मार्ग में जिन-आज्ञा नहीं है।

भगवान ने कहा है—"आणाए मामगं धम्मं"—"मेरा धर्म मेरी आज्ञामें है।" स्वामीजी ने भी कहा है "भगवान का धर्म भगवान की आज्ञा में है उसके बाहर नहीं।" स्वामीजी ने भगवान की आज्ञाओं का जो लघुतम निकाला वह ऊपर दिया गया है। इस भावार्थ का विस्तृत अर्थ यह है—"अहिंसा, सत्य, अचोरी, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह—ये पाँच महाधर्म हैं। अकषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ को जीतना और अराग-अद्वेष—राग-द्वेष को जीतना धर्म है। सत्बोध प्राप्त करना और व्रतादि के ग्रहण से आत्मा को संयम में लाना धर्म है। त्याग में, इन्द्रिय जयमें—विषयों के जीतने में—धर्म है। दया में धर्म है, मोह में नहीं। शुद्ध दान में धर्म है, असंयम, प्रमाद, दीनभाव, और पुरुषार्थ हीनता के पोषण में नहीं।"

कोई भी सच्चा जैनी अपने हृदय पर हाथ रखकर कहे कि स्वामीजी के इन विचारों में क्या कहीं कोई भूल है? क्या कोई ऐसी बात है जो जैन-धर्म के अगौरव की है अथवा उसकी समस्त विशेषताओं को प्रगट नहीं करती? अगर ऐसी बात नहीं है तो उनकी विचार-श्रेणी विचित्र कैसे? उसे अजीब क्यों कहा जाय? जो स्वामीजी को निन्हव और जिन-आज्ञाका विराधक कहते थे उनसे स्वामीजी का केवल एक ही प्रश्न था—"सच्ची श्रद्धा और सच्ची क्रिया इनमें भगवान की आज्ञा है। मैं भी इनमें धर्म समझता हूँ। ऐसा कोई कार्य बतलाओ जो इनके अन्तर्गत है और जिसमें मैं धर्म नहीं मानता। यदि ऐसा कोई कार्य नहीं बतला सकते तो मेरे पर निन्हव होनेका—उत्सुत्र-प्ररूपक होनेका आरोप लगाना निराधार है।"

इन सब उद्गारों के होते हुए भी यदि कोई स्वामीजी के धर्म को आधुनिक और उनको 'भुला भटका' समझे तो यह उसकी भ्रान्ति है। यदि कोई अमृत को विष समझने लगे तो यह अमृत का दोष नहीं, समझने वाले की बुद्धि का ही विपर्यास है।

—जिन-आज्ञा की महानता—

स्वामीजी जिन-आज्ञाको बड़ी महानता देते। जिन-आज्ञा की पहिचान करने पर जोर देते। उन्होंने एक जगह कहा है :

"जिन-शासन में आज्ञा बड़ी, ओलखै ते बुद्धिमान
ज्यां जिन-आज्ञा नवि ओलखी जीव छै विकल समान।"

"जिन-शासन में जिन-आज्ञा सबसे बड़ी है। जो इसको समझ लेता है वह बुद्धिमान् है। जो जिनेश्वर देव की आज्ञा को नहीं समझता वह मूर्ख है।"

वे अन्यत्र कहते हैं—"जो प्रभु-आज्ञा को लोप कर स्वच्छन्दता से चलते हैं वे ज्ञानादिक धन से रहित होते हैं। साधु सदा इस बात का ध्यान रखे कि प्रभु द्वारा बताया हुआ धर्म ही उसके लिए प्रमाणिक है, अन्य धर्म नहीं।"

इस तरह जोरदार ध्वनि उठाकर स्वामीजी ने जैनधर्म को पुनः प्राण प्रतिष्ठित करने का भगीरथ प्रयत्न किया। स्वामीजी की अखण्ड—अगाध—श्रद्धा एक हीरे की तरह दूर-दूर तक दिव्य प्रकाश डालती। वह तपाए हुए सोने की तरह शुद्ध और निर्मल थी। उसमें शंख सदृश उज्वलता थी। उसमें इस्पात की सी दृढ़ता थी जो मारतौल के टुकड़े २ कर देती पर जो स्वयं न लचकती, न मुड़ती और न टूटती थी। इस अखण्ड—अडिग—श्रद्धाके कारण ही वे जैन-धर्म का उद्धार कर उसे पुन-र्जीवित कर सके।

हम पहले ही कह आए हैं कि समय के प्रवाह से और अनेक तरह के प्रत्याघातों के कारण जैनधर्म छिन्न-विछिन्न हो गया था। लोग ऐसी बातों को जैनधम की अंगभूत मानने लगे थे जो उसकी अपनी नहीं पर विकृतियाँ थी। इन विकृतियों में धर्म मानने वालों की स्वामीजी बड़ी कड़ी आलोचना करते।

एक बार स्वामीजी पंचमी समिति के लिए—शौच निवृति के लिए गाँव बाहर जा रहे थे। रास्तेमें हीरविजय नामक एक जैन यती स्वामीजी के साथ हो लिया। रास्तेमें वह स्वामीजी से तरह २ के सवाल करने लगा। वह कहता था :—

"(१) हिंसा में पाप नहीं यदि मनुष्य सम्यक्‌दृष्टि हो। सम्यक्‌दृष्टि को पाप नहीं छूता। (२) जीवों को मारने से संसार-भ्रमण नहीं बढ़ता, न जीवों की रक्षासे घटता ही है। होनहार है सो ही होता है। (३) केवल-ज्ञानियों ने देखा है उस समय मोक्ष पहुँच जायँगे इसलिए क्रियाको कोई आवश्यकता नहीं।" रास्ते चलते बात करना ठीक न समझ स्वामीजी मौन थे। स्वामीजी को मौन देखकर वह बोला: "मालूम होता है आपको भी हमारे सिद्धान्त पसन्द आए हैं। शायद इसीलिए उत्तर नहीं देते?" स्वामीजी अब चुप नहीं रह सकते थे। वे पैर थामकर बोले:

काग निमोली में रति करे
भण्डसूरा ने बिस्टो आवै दाय
ज्यों काग भण्डसूरा जेहवा मानवी
रिझे आज्ञा बाहरली करणी मांय !

"कौआ पेड़ से गिरि हुई निमोली में रति करता है और भण्डसूर को भिष्टा अच्छा लगता है। कौवे और भण्डसूर की श्रेणी के जो मनुष्य हैं, उन्हें ही जिन-आज्ञाके बाहर के कार्यों में आनन्द आता है।"

यह कहकर स्वामीजी बोले—"मैं तो इन सिद्धान्तों को भिष्टा तुल्य समझता हूँ। ऐसे सिद्धान्तों के लिए मेरे मनमें स्वप्न में भी कोई स्थान नहीं। मैं तो केवल जैन धर्म को ही अच्छा समझता हूँ।"

स्वामीजी की आत्मा, एक स्वाभिमानी राजहंस की तरह, जैनधर्म रूपी विशाल मानसरोवर पर विहार करती और उसकी सुभाषित मुक्ताओं पर ही गुजर करती।

भगवान ने कहा है :—

जे अणन्नदंसी से अणण्णारामे
जे अणण्णारामे से अणन्नदंसी।

"जे परमार्थदर्शी होता है वह अनन्य विश्रामी होता है और जो अनन्य विश्रामी होता है वही परमार्थ दर्शी है।' इस पदमें केवली भाषित धर्ममें अडिग--स्थिर भाव को ही परमार्थदर्शी का परम लक्षण बतलाया है। स्वामीजी में एक परमार्थदर्शी की अडिग-निश्चल-श्रद्धा थी। यहाँ हम स्वामीजी की ढ़ालों के कुछ पद देते हैं जिनसे पाठकों को मालूम होगा कि जैन-धर्म के प्रति स्वामीजी की श्रद्धा कितनी निश्चल थी जौर जिन-आज्ञा के विपरीत कर्मों में धर्म मानने के प्रति कितना तीव्र विरोध।

आज्ञा में धर्म छै जिनराजरो
आज्ञा बारे कहै ते मूढ़ रे।
विवेक विकल शुद्ध बुद्ध बिना,
ते बूड़े छै कर कर रूढ़ रे॥
श्री जिन धर्म जिन आगन्या तिहाँ,
उजलो धर्म छै जिनराज रो,
ते तो श्री जिन आज्ञा सहित रे।
मुगत जावा अजोग अशुद्ध कह्यो,
ते तो जिन आज्ञा स्यूं विपरीत रे॥श्री०॥
आज्ञा सूं सकै ते धर्म म्हारो,
एहवो चिन्तवै साधु मन मांय रे॥
आज्ञा विन करवो जिहांहि रह्यो,
रुड़ो बोलवो पिण नवि थाय रे॥श्री०॥
हूं कहि-कहि ने कितरो कहूँ,
आगन्यां बारे नहीं धर्म मूल रे।
आगन्यां बारे धर्म कहै तेहना,
श्रद्धा कण बिना जाणो धूल रे

"भगवान का धर्म उनकी आज्ञामें है। आज्ञाके बाहर जो धर्म बतलाते हैं, वे मूढ़ हैं। उनमें न विवेक है, न शुद्ध बुद्धि। तो वे रुढ़िमें पड़े डूबे जा रहे हैं।

जिनराज का धर्म बड़ा उज्वल है। वह आज्ञासे प्रमाणित है।

साधु अपने मन में सोचा करे- 'भगवान की आज्ञा से प्रमाणित धर्म ही मेरा धर्म है। आज्ञा रहित कर्तव्य करना तो दूर रहा उसे अच्छा कहना भी मुझे शोभा नहीं देता'।

मैं कह-कह कर कितना कह सकता हूँ? आज्ञा के बाहर जरा भी धर्म नहीं। जो आज्ञा के बाहर धर्म कहते हैं उनकी श्रद्धा धूलकी तरह निस्सार है।

स्वामीजी ने जिन-धर्मको उज्वल धर्म कहकर उसे कितना उच्च स्थान दिया है। जिन आज्ञा को ही जैनधर्म की कसौटी बतलाया है। जिन-वाणी की आराधना ही स्वामीजी के जीवनकी सबसे बड़ी साध थी। जिन-आज्ञा रहित कार्य को वे अधम से अधम समझते थे।

केई जिण आज्ञा बारे धर्म कहै
जिण आज्ञा मांहे कहै पाप हो। स्वा०।
ते दोनूं विध बूड़ा छै बापड़ा
कूड़ो कर-कर अज्ञानी विलाप हो। स्वा०॥

"कई आपकी आज्ञा के बाहर धर्म बतलाते हैं और आप की आज्ञामें पाप। वे मूर्ख झूठा विलाप कर दोनों तरफ डूब रहे हैं।"

वे फिर कहते हैं:

बाप बिन बेटो निश्चै हुवै नहीं
ज्यूं जिन आज्ञा बिना धर्म न होय॥ भ०॥
जिन आज्ञा होसी तो जिन-धर्म छै
आज्ञा विन धर्म न होय॥ भ० श्री०॥
मां बिन बेटारो जन्म हुवै नहीं
जन्मे ते बांझ न होय॥ भ०॥

ज्यूं जिन-आज्ञा बिना धर्म हुवै नहीं
जिन-आज्ञा तिहाँ पाप न कोय ॥ भ० श्री० ॥
गग्घु पंखी ने चोर दोनूं भणी
गमती लागे अंधारी रात ॥ भ० ॥
ज्यूं भारी कर्मां जीव तेहने
जिन-आज्ञा बाहर लो धर्म सुहात ॥भ० श्री० ॥
चोर परदारा सेवण कुशीलिया
ते तो सेरी जोवै दिन रात ॥ भ० ॥
ज्यूं आज्ञा बारै धर्म श्रद्धायत्रा
उन्धी करै अज्ञानी बात ॥ भ० श्री० ॥
दुष्ट जीव मंजारी ने चितरा
छल सूं करे पर जीवां री घात ॥ भ० ॥
एहवा दुष्ट मिश्र श्रद्धारा धणी
छलसूं घालै विकलांरे मिथ्यात ॥ भ० श्री० ॥
बिगरायल हुवां न्यात बारे करै
ते बिगरायल फिरै न्यात बहार ॥ भ० ॥
तेहवो धर्म जिन-आगन्या बार लो
तिणमें कदै मत जाणो भली वार ॥ भ० श्री० ॥
न्यात बारै ते न्यात मांहे नहीं
तिण ने नवि बैसाणै एक पांत ॥ भ० ॥
ज्यूं जिन-आज्ञा बिना धर्म अजोग छै
कीधां पूरीजै नहीं मन खांत ॥ भ० श्री० ॥
श्री जिन आगन्यां बिन करणी करै
ते तो दुरगत रा आगीवाण ॥ भ० ॥

जिन आज्ञा सहित करणी करै
तिणसूं पामै पद निर्वाण ॥ भ० श्री० ॥

"जिस तरह निश्चय ही बाप बिना बेटा नहीं हो सकता, उसी तरह जिन-आज्ञा बिना धर्म नहीं होता। जिन-आज्ञा है तब ही जिन धर्म है। जहाँ जिन-आज्ञा नहीं वहाँ जिन-धर्म भी नहीं।

मां बिना बेटे का जन्म नहीं होता। जो बेटे को जन्म देती है वह बांझ नहीं हो सकती। उसी तरह जिन-आज्ञा बिना धर्म नहीं हो सकता और जहाँ जिन-आज्ञा है वहाँ कोई पाप नहीं हो सकता।

घुग्घू पक्षी और चोर को अंधेरी रात अच्छी लगती है उसी तरह कर्मों से भारी बने जीवों को जिन–आज्ञाके बाहरका धर्म अच्छा लगता है।

जिस तरह चोर और जार दिन-रात फांक देखते रहते हैं उसी तरह अज्ञानी आज्ञा बाहर धर्म में विश्वास पैदा कराने के लिए बकवाद करते रहते हैं।

बिल्ली और चित्ते जैसे घातक जीव जैसे छल से घात करते हैं उसी तरह दुष्ट-कर्मी और विपरीत श्रद्धावाले मनुष्य छलसे अज्ञानी मनुष्यों के मिथ्यात्व बैठा देते हैं।

जिस तरह भ्रष्ट हुए मनुष्यको जातके बाहर कर दिया जाता है और वह बिरादरी के बाहर भटकता है, उसी तरह भगवान की आज्ञा के बाहर भ्रष्ट धर्म है। उसमें जाने वाले की कभी अच्छाई नहीं हो सकती।

जो जाति बाहर होता है वह विरादरी के सामिल नहीं होता और उसे कोई अपनी पांतमें नहीं बैठाता, उसी तरह जिन-आज्ञा रहित धर्म अयोग्य होता है। ऐसे धर्म को माननेवाला मोक्षार्थियों की श्रेणी में नहीं आ सकता। जिन-आज्ञाके बाहर के धर्म के आचरणसे मनकी इच्छा फलीभूत नहीं होती।

जो जिन-आज्ञा रहित कार्य करते हैं, वे दुर्गति के अग्रणी हैं। जिन-आज्ञा के कार्य करने से ही निर्वाण-पद मोक्ष की प्राप्ति होती है।"

स्वामीजी के उपरोक्त उद्धरणों से साफ प्रगट है कि स्वामीजी के जीवन की एक

एक पल जिन-आज्ञा की आराधना के लिए न्यौछावर थी। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन जिन-आज्ञा की पुनर्प्रतिष्ठा के लिए अर्पित कर दिया। जिन-शासन के अनन्य भक्त और पुजारी को जैन धर्म का द्रोही और निन्हव घोषित करना सत्य की निर्मम हत्या है।

जयाचार्य ने ठीक ही कहा है:—

धर्म आज्ञा बारे धारने
भेषधार्‍यां माण्डो भ्रम जाल। सुज्ञानी रे।
थिर नीव आज्ञा भिक्षू थापने
वारू जिन वच थाप्या विशाल॥ सुज्ञानी रे॥
श्रद्धा दुर्लभ देवां कही

"जिन-आज्ञा के बाहर धर्म बतला कर भेषधारियों ने भ्रम जाल खड़ा कर रक्खा था। स्वामीजी ने जिन-आज्ञा रूपी स्थिर नींव पर जैन धर्म रूपी विशाल भवन की पुनः स्थापना की।"

श्रीमद् जयाचार्य ने इन थोड़े से शब्दों में स्वामीजी के जीवन की पृष्ठ भूमिका पर सुन्दर प्रकाश डाला है—स्वामीजी के जीवन के ताने बाने का सूक्ष्म उद्घाटन कर दिया है। वास्तव में स्वामीजी के जीवन का समूचा ढाँचा जिन-आज्ञा रूपी रीढ़ के बल खड़ा है। जैसे समुद्र का पक्षी जहाज के मस्तूल के चारों ओर उड़ा करता है और मस्तूल पर ही अपना आश्रय-स्थल देखता है उसी तरह स्वामीजी जैन धर्म रूपी मस्तूल के इर्द गिर्द चक्कर लगाते और जिन-आज्ञा प्रमाणित धर्मको ही अपनी आत्माका विश्राम स्थल मानते।

उन्हें दृढ़ आस्था थी: "तीर्थंकर भाषित सद्धर्म द्वीप तुल्य है। जिस तरह द्वीप पर ठहरने वाला प्राणी समुद्र के जलसे नहीं छुआ जाता उसी तरह जिन-भाषित धर्म की शरण लेनेवाला पाप से नहीं छुआ जा सकता।"

जीवन व्यापी मनन और चिन्तन के बाद उनकी अनुभव वाणी है:

"केवली भाख्यो धर्म मंगलीक छै
ओहिज उत्तम जाणरे—
शरणो पिण ल्यो इण धर्म रो
तिणमें श्री जिन-आज्ञा प्रमाण रे।"

"केवली भगवान का कहा हुआ धर्म ही मंगल है। वही उत्तम है। इसी धर्म की शरण लो। जैनधर्म जिन-आज्ञासे प्रमाणित है।'

स्वामीजी के जीवन की विरासत इस अनुभव वाणी में संचित है। यही उनके जीवनकी अमोलक देन है।

* *
*

: २ :

एक अमाप्य महापुरुष

समुद्र अगाध होता है परन्तु एक महापुरुष उससे भी अगाध। समुद्र के गर्भ का अन्दाजा वैज्ञानिक युगमें कभी संभव भी हो सकता है, परन्तु एक महापुरुष के समूचे व्यक्तित्व का माप-तौल असंभव रहा है और रहेगा भी। जैसे हम आकाश को नहीं माप सकते, वैसे ही हम एक महापुरुष के अनन्त व्यक्तित्व की सर्वग्राही अवधारणा नहीं कर सकते। वह अनन्तमुखी प्रतिभावाला एक अशेष पुरुष होता है। वह एक ससीम शरीर में असीम व्यक्ति होता है। हम उसके शरीर की सीमा और चौहद्दी बांध सकते हैं; परन्तु उसके महान आत्मा की नहीं। जैसे गागर में सागर नहीं समाता, वैसे ही वह शब्दों में नहीं समाता, प्रायः बाहर ही रह जाता है। वह अमाप्य पुरुष होता है। उसके लिए 'अपरम्पार' शब्द की उपमा ही ठीक बैठती है।

जब हम स्वामीजी के व्यक्तित्व पर विचार करते हैं, तो वह हमें एक ऐसे ही असीम महापुरुष लगते हैं। स्वामीजी की परिभाषा देना—उनकी व्याख्या करना—नपे-तुले शब्दों में उनके व्यक्तित्व को माप-जोखकर सामने लाना एक हिमालय की चढ़ाई का-सा दुर्गम काम है। श्रीमद् जयाचार्य जैसे विचक्षण आचार्य, उत्कृष्ट काव्यमय ६३ ढालों में एक अपूर्व प्रासादिक जीवनी देकर भी जब अनुभव करते हैं कि बहुत रह गया— बहुत थोड़ा ही दे सके, तब कौन दावा करेगा कि वह अधिक दे सकेगा?

निश्चय ही, स्वामीजी अपने ज़माने के महापुरुष थे और एक अमर्यादित महापुरुष। जो चैतन्य का नाथ हो—वह पुरुष। जिसमें चैतन्य का विराट् दर्शन हो वह महापुरुष। स्वामीजी—चैतन्य के—निर्मल ज्ञान और दर्शन के—एक तेजो-

मय पुञ्ज थे। एक तेज सूर्य की तरह—उनकी आत्मा एक दिव्य चैतन्यता की—एक अद्भुत ज्ञान-ज्योति की—अखण्ड और जाज्वल्यमान मूर्ति थी। वे दुनिया के लिए एक दिव्य नेत्र थे—खोई हुई दृष्टि और खोया हुआ जीवन-पथ देने वाले—एक प्रकाश-स्तंभ। उन्होंने दिन-दिन अधिक उद्योत करते हुए अज्ञानांधकार को मिटा, घट-घट में ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित की। वे एक महान् उद्योतकारी महापुरुष थे।

वे एक महान् क्रांतिकारी भिक्षु थे। केवल विनाश के नहीं पर विनाश और विकाश दोनों के प्रतीक। वे भय-भैरव भी थे और शीतल मेघ वर्षा भी। ढोंग और पाखण्ड के लिए वे भयंकर भैरव थे और शुद्ध-जीवन के लिए मेघ की शीतल-धारा। विशुद्ध आचार-विचार को पोषण देकर उन्होंने उसे हरा-भरा किया और पाखण्ड और शिथिलाचार को चुनौती देकर उसे दव-दग्ध-सा कर दिया। वे एक केसरी पुरुष थे और महान् संत पुरुष भी। उनमें सिंह का-सा पौरुष और सिंह की-सी दहाड़ थी पर साथ ही उनके प्रवचनों में जीवन का रस और भावों में सन्त-वाणी का अमर प्रवाह था। वे अपने जमाने के महा भयंकर पुरुष भी कहलाए और एक महान् आध्यात्मिक संत भी।

अन्तर-भेदी दृष्टि—जिसके सामने गूढ़ता टिक नहीं सकती, आशु प्रज्ञा—जो चकाचौंध जानती नहीं, दूरदर्शिता—जो स्खलित नहीं होती – ये उनके जीवन के सहज गुण थे। वे एक महान दूरदर्शी प्राज्ञ चक्षु साधु थे।

घी से सींची हुई निर्धूम अग्नि की तरह निर्मल ज्ञान, ध्रुव की तरह निश्चल श्रद्धा और स्फटिक की तरह स्वच्छ चारित्र इनके वे महान् पवित्र संगम थे। श्रीमद् जयाचार्य कहते हैं—"स्वाम जिसा चौथे आरे पिण, विरला संत विचार" "चौथे आरे में भी स्वामीजी से संत विरले होंगे।" जो स्वामीजी के जीवन का गहरा अध्ययन करेंगे उन्हें जयाचार्य के शब्दों में शुद्ध सत्य ही मिलेगा।

वे एक महान् बहुश्रुति अणगार थे—जो जैन तत्वज्ञान और आध्यात्म के गूढ़ार्थ—

एक सजीव वृहद् टीका थे; जो बुद्धिवान बहुश्रुति होने पर भी महान् स्थिर प्रज्ञावान थे और जिन्होंने विचार, उच्चार और आचारमें केवल ध्रुव जिन वचनों को ही स्थान दिया था।

वे एक महान् धर्माचार्य थे—जिनमें आचार्य की आठों सम्पदा एक साथ स्पर्धा करतीं। वे एक महान् मर्यादा पुरुषोत्तम थे, जिन्होंने आध्यात्मिक-जीवन का महान् सेतु बांधा; जिनका कठोर अनुशासन—"वज्रादपि कठोरानि" की उपमा को चरितार्थ करता था, जिन्होंने पग-पग पर जोवन-सूत्र दिए, जीवन-पथ दिया—निर्मल विवेक और सूक्ष्म उपयोग दिया।

वे छिन्न-भिन्नता में महान् संगठन की कल्पना, स्वच्छंदता में एकात्मक सत्ता की प्रत्यक्षा तथा संघ और संयोजक शक्ति के एक महान् केन्द्र थे। एक महान् व्यवस्थापक, महान् निर्यामक, महान् संचालक तथा प्रबुद्ध और प्राग्गामी नेता थे।

वे एक महान् तपस्वी थे—जिन्होंने कष्ट और विपदाओं की परवाह नहीं की—भूख और प्यास को नहीं गिना,—परन्तु जो एक ही तमन्ना से, एक ही धैर्य से, एक ही साहस और एक ही रस से जीवन-भर जिन-शासन के उद्धार का काय करते रहे। वे जिन-शासन के एक महान् उद्धारक थे, जिनका त्याग और बलिदान अपनी सानी नहीं रखता। उनकी साधना एक योगी की अखण्ड साधना थी, जिसमें न विराम था, न शिथिलता, न मन्दता पर जो एक अविरल प्रवाह की तरह निरन्तर बहती थी।

एक महान् तत्वज्ञानी—जो गूढ़ को सरल कर देते, एक महान् आध्यात्मिक संत—जो आत्मिक-भावनाको एक स्रोतस्विनी बहा देते, जीवन-काव्यके एक ओजस्वी कवि-जो जीवनमें चेतना भर देते—एक महान् धर्मकथी और दृष्टान्तिक—जो देखते-देखते अन्तर दृष्टि-उन्मेष कर देते—वे एक ऐसे हो संस्कार-सम्पन्न लाक्षणिक महापुरुष थे जिनके व्यक्तित्वमें एक अद्भुत सजीवता, एक अद्भुत आकर्षण और एक अद्भुत प्रतिभा थी।

वे दया, अहिंसा और साम्यभाव की साकार मूर्ति थे जिनकी दृष्टि में छोटे-बड़े का कोई अन्तर नहीं था, जो एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय में केवल इन्द्रिय और शरीर आदि का ही अन्तर समझते, परन्तु आत्मिक दृष्टि से किसी भेद की कल्पना नहीं करते थे। जिन की तुला में सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जीव के प्राणों की भी उतनी ही कीमत थी, जितनी कि दुर्लभ मनुष्य के जीवन की ; जिन्होंने आपेक्षिक कीमत के झूठे और अन्यायपूर्ण तरीके को कभी प्रश्रय नहीं दिया पर मनुष्येतर प्राणियों के प्रति भी **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** की भावनाको पुनःस्थापित कर जिन-भाषित अहिंसाका सूक्ष्म विवेक जागृत किया। अहिंसा की प्राण-प्रतिष्ठा के लिए उनका दुर्धर्ष संग्राम—उनका आजीवन व्यापी गंभीर संघर्ष जिन-शासन के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित होगा।

महा ऋषि, महा माहण, महा गोप, महा जितेन्द्रिय, महा तपस्वी, महा स्वाध्यायी, महा आत्म-ज्ञानी, महा दार्शनिक, महा तार्किक, महा कवि, महा अध्यापक, महा उपदेष्टा, महा प्राज्ञ, महा पुरुषार्थी, महा धृतिवान, महा श्रद्धाशील, महा साहसी—वे क्या नहीं थे, जिसमें वे महान् नहीं थे ? वे एक अद्भुत व्यक्तित्वके धारक महान पुरुष थे, जिनमें आत्मा और मस्तिष्क के सब गुणों ने महान् विकास पाया था।

लोग कहेंगे तुम भावना में बह गए—एक अतिरंजित चित्र खींच दिया। परन्तु हम कहेंगे हमने स्वामीजी के असीम व्यक्तित्व को सीमा बद्ध कर दिया, जो हमने उनको अमुक-अमुक कह दिया। कवि सूर्य की अशेष राशियों को गिन नहीं सके इसलिए उसे सहस्र रश्मि कह दिया। हमने भी स्वामीजी को अमुक-अमुक दिशाओं में ही महान् कहकर अपनी असमर्थता को ही प्रगट किया है। अन्यथा स्वामीजी एक असीम व्यक्ति थे— एक अमाप्य पुरुष थे— जिनके सम्बन्ध में जयाचार्य की निम्न-लिखित गाथा ही ठीक बैठती है:—

"आशा पूरण आप तणा गुण, कह्या कठा लग जाय।
सागर जल गागर किम मावै, किम आकाश मिणाय॥"

——

: ३ :

एक महान् आदर्शवादी साधु

स्वामीजी का जन्म उस समय हुआ था, जब जैन-धर्म प्रायः मरणासन्न हो अन्तिम सांसे गिन रहा था। उस समय के जैनियों में न सिद्धान्त-बल बचा था और न आचार—चारित्र बल ही। दोनों मूली-गाजर की तरह बिक्री किए जा रहे थे। साधु और श्रावक दोनों एक पीढ़ी बैठ चुके थे। छद्म भेषियों की करतूतों से शुद्ध साधुत्व और श्रावकत्व दोनों रास्ते लग चुके थे। भेषधारी साधु अपनी मनमानी कर रहे थे। धर्म के नाम पर उन्होंने श्रावकों को लूटने का धन्धा खड़ा कर रक्खा था। शुद्धाचार का नाम लेने से वे काल—जमाने का बहाना लेकर कहते—"इस आरे—काल में शुद्धाचार का पूरा-पूरा पालन नहीं हो सकता।" शुद्धाचार का पक्ष लेकर कोई खड़ा होता तो उसका गला घोंटने की कुचेष्टा की जाती थी। स्वामीजी ऐसे ही समय में एक धन्वन्तरि वैद्य की तरह उत्पन्न हुए। उन्होंने मरणोन्मुख जैन-धर्म को अमृत-घूंट पिला, नया जीवन-दान दिया। संघ के जीर्ण-शीर्ण शरीर में नवीन जीवनी-शक्ति पैदा की। अपने उच्चकोटि के आदर्शमय जीवन द्वारा समाज में धार्मिक जीवन के पवित्र आदर्श को पुनः प्रतिष्ठापित कर उसकी असली कीमत को परखा, भूले-भटके जन-समाज को फिर से सन्मार्ग पर लगाया।

स्वामीजी का सिद्धान्त—"पल-पल पवित्र जीवन" था। अपने साधु-जीवन में उन्होंने अपने इस सिद्धान्त की निरन्तर साधना की और इसे कभी आंच न आने दी।

"जावज्जीवम विस्सामो गुणाणं तु महब्भरो"—"इस वृत्ति में विश्राम कहां ? साधु-जीवन में जावज्जीवन गुणों का महा भार उठाना पड़ता है।"

यह पद स्वामीजी के लिए महान् उपदेशपद था। **कंखे गुणे जाव सरीर भेउ**"—"आत्मज्ञ साधु शरीरपात पर्यन्त गुणों की उपासना करे"—भगवान की यह आज्ञा उनके जीवन का अमर सूत्र बन गया था।

स्वामीजी चरित्रहीन साधु और श्रावक को पोली—खाली मुट्ठी का साथी कहा करते। उनका कहना था:—"जैसे कोई हवा के सन्मुख होकर घट्टी (चक्की) चलाने बैठता है तो वह ज्यों-ज्यों पीसता है त्यों-त्यों आटा उड़ता जाता है और उसका सारा परिश्रम व्यर्थ होता है, ठीक उसी तरह जो व्रत और प्रत्याख्यान लेकर दृढ़ भावना से उनका पालन और गोपन नहीं करता, जान-बूझकर दोष सेवन करता है और प्रायश्चित नहीं करता, उसका सारा करा-कराया व्यर्थ जाता है।" "जिस तरह चरवाहा गायों का रक्षक होता है, उनका मालिक नहीं, उसी तरह जो चारित्र का पालन नहीं करता, वह केवल भेष का बोझ ढोनेवाला होता है। वह आत्मार्थ नहीं साध सकता।" इस बात को वे रात दिन साधुओं और श्रावकों के समक्ष रखते और उन्हें पवित्र जीवन की प्रेरणा देते। चारित्रिक स्वच्छता पर स्वामी कितना जोर दिया करते थे—यह उनके जीवन की निम्नोक्त घटना के सूक्ष्म अवलोकन से स्पष्ट हो जायगा :

एक बार स्वामीजी से किसी ने कहा—"बहुत लोग आपके पीछे पड़े हुए हैं। वे आपके दोष निकालते रहते हैं।" स्वामीजी बोले :"यह तो अच्छा ही है, भले ही निकालें। अवगुण तो निकालने—दूर करने के ही होते हैं, रखने के नहीं। कुछ हम निकाल रहे हैं और कुछ वे निकाल देंगे। हमें तो आत्मा उज्ज्वल करनी है।" स्वामीजी आत्मगवेषी थे अतः अनुचित बात को भी उचित रूप में लेते। जब कोई उनमें दोष निकालता तो वे तुरन्त ही अन्तर-दृष्टि डालते। दोषों की तालिका उनके लिए अन्तरशुद्धि की तालिका हो जाती। "**समा निन्दापसंसासु तहा माणाव माणओ**"—निन्दा और प्रशंसा, मान और अपमान—सब में सम-भाव—यह उच्चादर्श उनके जीवन का सहज

सिद्धान्त हो गया था।

एक बार स्वामीजी ने अपने परम शिष्य बालक साधु भारीमालजी से कहा : "हे भारीमाल! यदि कोई तुम में दोष निकाले तो तीन दिन का उपवास करना होगा।" ऋषि भारीमालजी बोले : "स्वामीनाथ! ये तेले (तीन दिन के उपवास) तो रोज ही करने पड़ते दिखाई देते हैं क्योंकि द्वेषी बहुत हैं। उनके लिए दोष मढ़ना तो एक सहज बात है।" इस उत्तर को सुन कर स्वामीजी ने जो गम्भीर बात कही वह उनको अन्तर भावनाओं पर बड़ा सुन्दर प्रकाश डालतो है। स्वामीजी बोले : "यदि कोई सच्चा दोष निकाले तो उस दोष-सेवन से लगे पाप की शुद्धि के लिए दण्ड-स्वरूप तेला करना होगा और यदि काई झूठ-मूठ - व्यर्थ ही दोष निकाले तो अशुभ कर्मों का उदय समझ उसके नाश के लिए तेले की तपस्या करनी होगी।" वे निंदक के प्रति इसलिए उदारभाव रखते थे कि यदि वह सच्चा दोष बतलाता है तो आत्मगवेषी पुरुष के लिए मित्र समान होता है। यदि वह झूठ हो दोष बतलाता है तो कम-से-कम कर्मों के उदय की सूचना अवश्य देता है और उन कर्मों को समभाव और तपस्या आदि द्वारा क्षय करने का अवसर बतलाता है। सोने को शुद्ध करने के लिए जैसे उसे तीव्र आँच में तपाया जाता है, उसी तरह स्वामीजी अपनी आत्मा को शुद्ध करने के लिए उसे निरन्तर धर्म रूपी भट्टी में तपाया करते और अपने शिष्यों को भी वैसी ही शिक्षा देते।

एक बार स्वामीजी पादु शहर पधारे। साथ में हेम ऋषि भी थे। एक श्रावक हेम ऋषि की चद्दर को हाथ में लेकर बोला : "यह चद्दर शास्त्रीय प्रमाण से लम्बी है।" स्वामीजी ने तुरन्त चद्दर को हाथ में ले उसकी लम्बाई-चौड़ाई नाप दिखाई। वह शास्त्रीय प्रमाण के अनुसार थी। श्रावक शर्मिन्दा हुआ। वह बोला : "मुझे झूठ ही सन्देह हुआ।" स्वामीजी गम्भीर होकर बोले : "क्या तुम ने हम लोगों को इतना नादान समझ लिया है कि चार अंगुल कपड़े के लिए संयम

जैसी सार वस्तु को खो देंगे ? हम गांवानुगांव बिहार करते हैं, रास्ते में हमें कोई नहीं देखता, तब तो हम कच्चा जल भी पी लेते होंगे ? यह हमने कोई साधुपन का ढोंग नहीं रचा है। हमारी आत्मा ही हमारे सच्चे साधुत्व की साक्षी है। संतों के प्रति ऐसा अविश्वास भविष्य में न करना।" स्वामीजी और उनके संत इसी तरह आत्म-साक्षी पूर्वक शुद्ध चारित्र का पालन करते थे। स्वामीजी कहा करते : 'धर्म आत्मा की वस्तु है। उसका पालन अन्तस्थल से होना चाहिए।" "निरट्ठिया नग्गरुई उ तस्स जे उत्तमट्ठे विवयासमेइ।" उसकी निर्ग्रन्थ-रुचि साधु-भाव निरर्थक है जो उत्तमार्थ में भी विपर्यास भाव को प्राप्त होता है। शस्त्र को उलटा पकड़ने से जैसे वह शस्त्रधारी की ही घात करता है, उसी तरह जो ग्रहण किए हुए धर्मका विपर्यास करता है, वह दुर्गति को प्राप्त होता है।" सूत्रों के इन वचनों को वे माला की तरह हृदय में फेरते रहते और अन्तरभावना से धर्मका पालन करते।

स्वामीजी की दृष्टि में धर्म कोई 'आरामकुर्सी' न थी, जिसपर बैठकर हम यदाकदा मन—बहलाव किया करें। वे इसे निरन्तर साधना की वस्तु समझते और कहा करते थे : "सुख में धर्म का पालन सरलता से हो सकता है, परन्तु वास्तव में कोई धार्मिक पुरुष है या नहीं, इसकी कसौटी तो विपत्ति-काल ही है।"

किसी ने एक बार कहा—"कारण पड़ने पर—आपत्ति-काल में साधु अप्राशुक चीज़ भी ले सकता है, इसमें दोष नहीं। ऐसे मौके पर अशुद्ध वस्तु देने वाले श्रावक को 'अल्प पाप, बहु निर्जरा' होती है।" स्वामीजी ने कहाः—"राज पूत का लड़का यदि कायरतापूर्वक पीठ दिखाकर संग्राम-भूमि से भाग चले, तो उसे कौन बहादुर कहेगा ? राजा उसे पट्टे का—सनद का भोग कैसे करने देगा ? लोगों में उसकी आबरू क्या खाक रहेगी ? उसी तरह भगवान के पट्टे को—उनकी मुद्राको धारण करने वाले साधु यदि आपत्ति कालमें अशुद्ध (अकल्प) ले और देने वाले को अल्प-पाप बहु निर्जरा बताये, तो न केवल इस लोक में, परन्तु परलोक

में भी उसकी आबरू मिट्टी में मिल जायेगी। कष्ट के समय अपने लिये हुए व्रतों पर और अधिक अटल रहकर अपनी सच्चाई का परिचय देने की जरूरत है, न कि शिथिलाचार को ग्रहण कर भ्रष्ट होने की।" वे कहते कि सुख की घड़ी हो या दुख की, धर्म तो प्रत्येक श्वासोच्छ्‌वास के साथ चलना चाहिये।

स्वामीजी का आन्तरिक-जीवन बड़ा निर्मल था। वह स्फटिक की तरह स्वच्छ था। साधु-जीवन की क्रियाओं का वे बड़े विवेक और उपयोग के साथ पालन करते। इसकी झांकी निम्नलिखित घटना से मिलेगी :

एक बाई (महिला) ने स्वामीजी से कई बार भिक्षा के लिये पधारने की प्रार्थना की। एक दिन स्वामीजी गोचरी पधारे। उन्हें देखकर वह बाई बहुत खुश हुई। वह भिक्षा अर्पित कर ही रही थी कि स्वामीजी ने प्रश्न किया : "मालूम पड़ता है, इसके बाद तुझे हाथ धोने होंगे।" वह बोली—"हाँ! हाथ तो धोने ही पड़ेंगे।" स्वामीजी ने पूछा—"हाथ कच्चे पानी से धोओगी या पक्के पानी से?" उसने उत्तर दिया—"गर्म जल से।" स्वामीजी ने फिर पूछा—"हाथ कहां धोओगी?" उसने नाली की ओर संकेत करते हुए कहा—"यहां पर।" स्वामीजीने पुनः पूछा—"यह जल कहां गिरेगा?" उत्तर मिला—"यह तो नीचे गिरेगा।" इस पर स्वामीजी ने कहा—"यह जल गिरने से वायुकाय आदि जीवों की हिंसा होगी, इसलिए हमें आहार लेना नहीं कल्पता।" उसने कहा—"आप आहार देखकर लीजिये। हम गृहस्थ बाद में क्या करते हैं, उससे आपको क्या प्रयोजन? अपनी सांसारिक क्रिया को हम कैसे छोड़ें?" स्वामीजी बोले—"बाई! यदि तू कर्म-बन्ध की हेतु अपनी सावद्य क्रिया को नहीं छोड़ सकती, तो रोटी के लिए मैं अपनी सच्ची-क्रिया को कैसे छोड़ूं?" यह कहकर वे—वहां से चले गये। गोचरी करते समय वे कितनी छान-बीन करते थे, इसकी कल्पना उपरोक्त घटना से की जा सकती है। वे आहार मिलने अथवा न मिलने की कोई परवाह न करते थे। उनकी दृष्टि शुद्ध आचार पर रहती थी।

"**भारण्ड पक्खीव चरे अपमत्ते**"—भारण्ड पक्षी की तरह अप्रमादपूर्वक जीवन-चर्या करना—यही उनके जीवन का उच्चादर्श था।

एक बार जब स्वामीजी आ० रुघनाथजी के संघ में थे, किसी दर्जीके घर गोचरी पधारे। दर्जी ने कहा : "आपका एक साधु कल हमारे यहां से गुड़ ले गया है, इसलिए आज आपको हमारे यहां भिक्षा नहीं कल्पती।" स्वामीजी ने स्थानक वापस जाकर सबसे पूछा—"कल दर्जी के यहां से गुड़ कौन लाया?" परन्तु किसी साधु ने 'हां' में उत्तर नहीं दिया। सब मौन रहे। स्वामीजी सब साधुओं को ले दर्जीके पास पहुंचे और उससे पूछा—"इनमें से कौन तुम्हारे यहां से गुड़ ले गया?" तब उस दर्जी ने जयमलजी के संघ के बालक साधु रायचन्दजी की ओर संकेत किया। झूठ प्रगट होने से वह सबके सामने बड़ा शर्मिन्दा हुआ। स्वामीजी ने इस बात का निचोड़ इसलिये किया कि जिससे कोई साधु भविष्य में इस तरह चालाकी से काम लेने का दुस्साहस न करे। स्वामीजीको सत्य से बड़ा प्रेम था। वे झूठ को जरा भी पसंद नहीं करते थे।

एक बार रीयां और पीपाड़ के बीच स्वामीजी को एक अन्य सम्प्रदाय का साधु मिला। वह स्वामीजी को एकान्त में ले गया। स्वामीजी को कुछ देर लगी। ऋषि हेमराजजी साथ में थे। वापस आने पर ऋषि हेमराजजी ने स्वामीजी से पूछा : "उस साधु से आप की क्या बातचीत हुई?" स्वामीजी बोले : "उसने मेरे सामने आलोचना की—कोई आत्म-दोष स्वीकारा।" हेमराजजी स्वामी ने फिर पूछा—"क्या 'आलोचना' की?" स्वामीजी बोले : "एक की आलोचना दूसरे को बताना नहीं कल्पता।"

स्वामीजी ने कितनी बड़ी अनासक्ति का परिचय दिया। "**असिणेइ सिणेह करेहिं**" - स्नेहकारियों में भी वे सम्पूर्ण अस्नेही थे। अपने परम विश्वासी और भक्त मुनि को भी उन्होंने शास्त्र की मर्यादा लोप कर कोई बात कहने से इन्कार कर दिया। आत्म-साक्षी पूर्वक धर्म-पालन करने की, इससे बढ़ कर और दूसरी

कसौटी नहीं हो सकती। किसी ने पूछा : "आपका यह कठिन मार्ग कितने वर्ष तक चलता दीखता है ?" स्वामीजी ने उत्तर दिया : "जब तक साधु और साध्वियां श्रद्धा-आचार में दृढ़ रहेंगे, वस्त्र-पात्र-उपकरण आदि की मर्यादा का लोप—भंग नहीं करेंगे और अपने लिए स्थानक नहीं बनायेंगे।" स्वामीजी शुद्धाचार को ही जीवन और जीवन-शक्ति समझते थे। शुद्धाचार को ही वे स्थिर नींव समझते थे—यह उपरोक्त प्रसंग से साफ-साफ प्रगट है। वे साधुओं को इन बातों में निरन्तर पवित्र रहने का उपदेश दिया करते थे।

स्वामीजी वृद्धावस्था में भी खड़े-खड़े 'प्रतिक्रमण' किया करते। यह देख कर किसी श्रावक ने एक बार कहा : "स्वामीजी ! आपकी अवस्था अब पक चुकी है—आप बहुत वृद्ध हो चुके हैं, अब आप बैठे-बैठे 'प्रतिक्रमण' करें तो ठीक रहे। इतना कष्ट क्यों करते हैं ?" स्वामीजी ने उत्तर दिया : "यदि मैं ही बैठ कर प्रतिक्रमण करूँ तो बाद में होने वाले साधु कहीं लेट कर प्रतिक्रमण करने लगें।" स्वामीजी कितने अग्र-सोची और आत्मार्थी थे ! वे अपने भावी शिष्यों के लिये कितना उच्चादर्श छोड़ गये—यह उपरोक्त घटनासे साफ प्रगट होता है।

स्वामीजी पवित्र जीवन के मूर्तिमान स्वरूप थे। स्वामीजी को पवित्रता—निर्मलता में बड़ा आनन्द और गौरव मालूम देता। यही कारण है कि वे संख्या बढ़ाने की ओर कभी नहीं झुके। 'पात्र देख कर दीक्षा देना'—शिष्य बनाने के सम्बन्ध में शुरू से ही उनका यही सूत्र रहा। अपनी अन्तिम शिक्षा में भी उन्होंने अपने शिष्यों को यही अमोलक धरोहर छोड़ी :

"जिण तिण रे जिण तिण ने मत मुंडजो
दीक्षा दीज्यो देख-देख"

वे कहा करते : "जो जिस-तिस को मुण्ड कर अपने मत को बढ़ाने की फिक्र में रहते हैं, वे गुणहीन वेष को प्रोत्साहन देते हैं। वे साधु का स्वांग रच कर कर्मों से विशेष भारी होते हैं।"

एक बार स्वामीजी ने दृष्टान्त दिया: "जिस तरह जबरदस्ती चित्ता पर चढ़ा कर बनाई हुई सती को अगर कोई वन्दना कर कहे : 'हे माता! मेरा तेजरा बुखार दूर करो'—तो वह क्या खाख बुखार मिटायेगी? उसी तरह उदर-पूर्ति के लोभ से साधु-वेश धारण करने वालों से चारित्र-पालन की आशा करना आकाश-कुसुमवत् है। दीन-दयाल भगवान् ने चारित्र को महादुष्कर कहा है। वह जिस-तिस से नहीं पाला जा सकता।"

स्वामीजी दीक्षा के विषय में कितने सतर्क थे, इस सम्बन्ध में हम यहां एक प्रसङ्ग उपस्थित करते हैं:

किसी ने स्वामीजी से कहा: "मेरा दीक्षा लेने का विचार है—मुझे दीक्षा दीजिये।" स्वामीजी बोले—"दीक्षा का विचार ठीक है, परन्तु वह महा दुष्कर कार्य है। तुम्हारे लिए यह कार्य कठिन है। तुम्हारा कच्चा मन कुटुम्बियों के मोह के आगे स्थिर नहीं रहता।" यह सुन कर दीक्षार्थी बोला—"आप ठीक कहते हैं, सम्बन्धियों को रोते देखता हूँ तो आँसू तो आ ही जाते हैं।"

स्वामीजी बोले: "जब दुल्हा बधू को लेकर ससुराल से विदा होता है तो उस समय दुलहन के ही अश्रुपात होता है। दुल्हा तो हर्षित ही रहता है। पीहर के मोहवश दुलहन का रोना स्वाभाविक ही होता है, पर यदि दुल्हा ही रोने लगे तो लोग क्या समझें? तुम्हारे दीक्षा लेने के विचार से तुम्हारे कुटुम्बी-जनों का मोह विह्वल होना स्वाभाविक है, परन्तु तुम उनके प्रति मोह कैसे कर सकते हो? तुम से संयम-भार नहीं उठ सकता। तुम दीक्षा के योग्य नहीं। जिसे 'गिहंसि न रइं लभे'—घरमें जरा भी रति नहीं होती—जो संसार में जरा भी आनन्द नहीं पाता—वही दीक्षा के योग्य है।"

सूत्रों में कहा है—"भिक्षु को सहस्त्रों गुण धारण करने पड़ते हैं। शत्रु मित्र—सारे जगत् से समभाव रखना, अप्रमत रहकर मृषावाद से बचना, दन्त-शोधन की शली तक भी बिना दिए न लेना, उग्र ब्रह्मचर्य का पालन करना,

सर्व परिग्रह से विरक्त रहकर ममत्व को दूर रखना, सूर्यास्त के पहले-पहले भोजन कर लेना और किंचित् भी भोजन-सामग्री का संचय नहीं रखना, भूख प्यास आदि के परिषह झेलना—यह सब महा दुष्कर है। संयम लोह-भार की तरह गुरु है, बालू के कवल की तरह नीरस है, तलवार की धार पर चलने के समान कठिन है तथा लोहे के चनों को चबाने के सदृश्य दुष्कर है।" स्वामीजी संयम को ऐसा ही दुर्धर समझते थे।

"तहा दुक्खं करेउं जे, कीयेणं समणत्तणं"—'श्रमणत्व का पालन क्लीव से—सत्व हीन से नहीं हो सकता'—यह वचन स्वामीजी के हृदय में दृढ़ वध थे और इसी कारण से वे जो आ जाता उसी को मुण्डित नहीं कर लेते परन्तु पात्रापात्र का पूरा निर्णय कर ही दीक्षा देते थे। उन्हें पूरा विश्वास था कि **"इह लोए निपिवासस्स नत्थि किंचित दुक्करं"**—'निर्पिपासित—वैरागीके लिये इस संसार में कुछ भी दुष्कर नहीं' और इसी कारण से वे वैरागी को—संसार से सच्चे उदासी को ही—दीक्षा के योग्य समझते थे।

वैरागी को संसार में आनन्द नहीं मिल सकता। जिसे संसार में रति है—आनन्द है वह वैरागी नहीं और जो वैरागी नहीं, जिसकी मोह-वृति शान्त नहीं हुई, उसके लिये संयम सुकर नहीं :

जहा भुयाहिं तरिउं, दुक्करं रयणायरो
तहा अणुवसन्तेणं, दुक्करं दम सागरो

जैसे रत्नाकर को भुजाओं से तैरना दुष्कर है, उसी तरह विषयों से अनुपशान्त मनुष्य के लिये दम-रूप—संयम-रूप महा सागर का तैरना दुष्कर है।

स्वामीजो ने इसी शास्त्रोक्त विचार सरणी से उपरोक्त दीक्षार्थी को प्रव्रज्या देना अस्वीकार किया।

स्वामीजो जैसे दीक्षा देने के विषय में सतर्क रहते वैसे ही आचार में

ढिलाई देख कर वे किसी की खातिर नहीं करते थे। उनका स्पष्ट निर्देश था :

कोई दोषज रे, दोष लगावे गण मधे रे,
वली कर्म वशे बोले कूड़ रे।
काणज रे काण मत राख जो केहनी रे
प्रायश्चित न लिए तो करज्यो दूर रे।"

अर्थः—"यदि कोई दोष का सेवन करे, पूछने पर झूठ बोले और दोष का प्रायश्चित न ले तो उसे उसी समय गण से दूर कर देना। किसी की खातिर न करना। उसके अन्य गुणों की परवाह न करना।"

स्वामीजी शुद्धाचार को विद्वता से सदा उच्च स्थान दिया करते। आचार बिना की विद्वता को वे बिना धान के तुष की तरह निस्सार समझते थे और यही कारण था कि उन्होंने कई विद्वान पर गुणहीन शिष्यों को, उनकी विद्वता की जरा भी परवाह किए बिना, गण-च्युत कर दिया था।

जिन भाषित निम्नोक्त पदों का सार स्वामीजी अमृत-रस की तरह पान कर चुके थे :

इहमेगे उ मन्नन्ति, अप्पच्चक्खाय पावगं
आयरियं विदित्ताणं, सव्वदुक्खा विमुच्चई।
भणंता अकरेन्ता य, बन्धमोक्खपईण्णिणो
वायाविरियमेत्तेण समासासेन्ति अप्पयं।
न चित्ता तायए भाषा, कुओ विज्जाणुसासणं
विसण्णा पावकम्मेहिं, बालापंडिय माणिणो।

अर्थ : "इस संसारमें कई ऐसा मानते हैं कि पाप द्वारों को रोके बिना ही—पापों का त्याग किए बिना ही, केवल आचार को जान लेने से ही जीव सब दुखों से मुक्त हो जाता है।

ज्ञान से ही मोक्ष बतलाने वाले पर किसी प्रकार की क्रिया का अनुष्ठान न

करने वाले ऐसे बंध-मोक्ष के व्यवस्थावादी लोग केवल वचनों की वीरता से ही अपने को आश्वासन देते हैं ।

नाना-प्रकार की भाषाएँ—विविध भाषा ज्ञान-जीव को दुर्गति से नहीं बचा सकता। जो पाप कर्म में निमग्न हैं और अपने को पण्डित मानते हैं, ऐसे मूर्ख मनुष्यों को भला विद्याओं का सीखना कहाँ से रक्षक होगा ?"

स्वामीजी का अन्तःकरण बड़ा स्वच्छ और सरल था। दम्भ या ढोंग जैसी कोई वस्तु उन्हें रुचि कर नहीं होती थी। दम्भ या ढोंग के वातावरण में जैसे स्वामीजी को सांस लेना मुश्किल होता। वे 'कथनी' और 'करनी' की विसदृशता को सहन नहीं कर सकते। जहाँ कहीं वे यह बात देखते उसका बड़ी उग्रता से भण्डाफोड़ और विरोध करते। इस प्रवृति के अंकुर उनमें युवावस्था से ही थे। गृहस्थावस्था में उन्होंने दम्भी कुम्हार की करतूतों को प्रकट कर किस प्रकार उसकी ठगी से गांववालों को बचाया था, यह पहले लिखा जा चुका है। जब गृहस्थावस्था में यह बात थी तो साधु अवस्था में ढोंग उन्हें कैसे पसन्द होता ? धर्मस्थान और धर्मियों में ठगी, यह उनकी कल्पना के बाहर की बात थी। यदि घरबार सब छोड़ कर साधु बनने वालों में दम्भ हो, तब तो उसका कहीं अन्त ही नहीं हो सकता। जनता के सामने तो धर्मी और अन्तर-जीवन में भ्रष्टाचारी—यह विसदृशता उन्हें बड़ी वेदना पहुंचाती। स्वामीजी कहा करते : "परमतवादियों से स्वमत के भेष धारी बुरे—पत्थर की नौका से छेदवाली नौका बुरी। परमतो को हम पहचान सकते हैं, पत्थर की नौका को हम दूर ही से छोड़ सकते हैं, परन्तु भेषधारियों को पहचानना बड़ा मुश्किल होता है। वे तो छिद्रवाली नौका की तरह धोखा देने वाले होते हैं—भोले लोगोंको मझधार में ले डूबते हैं।" स्वामीजी ने अन्य मतियों का उतना खण्डन नहीं किया, जितना स्वांगधारी स्वमतियों का। वे इन स्वाँगधारियों के सम्बन्ध में कहा करते : "जिस तरह गदहा सिंह की खाल पहिन कर स्वच्छन्दतापूर्वक खेत को चर जाता है, उसी तरह से ये, साधु का भेष

धारण कर, दिन-दहाड़े समकित और चारित्रको चर लेते हैं और जैन धर्म की मजबूत दीवार में दरारें डाल देते हैं।" दम्भ और ढोंग के विरुद्ध स्वामीजी ने जो बगावत की थी, उसका कारण यही था।

जब कोई केवल भेष की हिमायत करने आता तो स्वामीजी उसको बड़ा करारा जबाव देते। एक बार किसी ने कहा :"हमें आचार से क्या मतलब ? हम तो बाहरी भेष देखते हैं। जिस के पास ओघा और मुंहपती होती है, हमारे लिए तो वह साधु है और वंदनीय है। हम उसे सिर झुकाना उचित समझते हैं।" स्वामीजी ने उसको जो जबाव दिया, वह वेष-भूषा की पूजा के प्रति उनकी तीव्र विरोध भावनाओं का विराट् प्रदर्शन कराता है। स्वामीजी ने कहा :"ओघा ऊन का होता है और मुंहपती कपास की। यदि ओघे को वंदना करने से ही कल्याण होता हो, तब तो भेड़ के पैरों को वंदना करनी चाहिये और कहना चाहिये—'हे माता ! तू धन्य है कि तुमने ओघे को पैदा किया'। यदि मुंहपती-वन्दना से ही कल्याण होता हो तो बणी के वृक्ष को वन्दना करनी चाहिए। परन्तु चरित्रहीन भेषधारियों की वंदना और पूजा से कोई संसार-समुद्र से निस्तार नहीं पा सकता। गुण-रहित भेष नमस्कार करने योग्य नहीं।"

जिन-मार्ग में देखलो, गुण लारे पूजा।
निगुणा ने पूजे तिके, ते मारग दूजा॥

स्वामीजी के समय में बहुत से ऐसे साधु थे जो कहा करते : "इस आरे—वर्त्तमान काल में साधुत्व का पूरा-पूरा पालन नहीं हो सकता"। स्वामीजी ने एक बार कहा : 'गांव में एक साहुकार था, जिसने समूचे गाँवको न्यौता दिया। जब गांववाले भोजन करने आये तो दरवाजे के पास खड़ा होकर कहने लगा :'मैं इतने आदमियों को भोजन नहीं करा सकता। मेरे पास इतनो सामग्री नहीं है, न मुझ में इतना सामर्थ्य ही है। मैं क्या करूं ? अमुक मनुष्य ने भी तो न्यौता देकर ऐसा ही किया था।' यह बात सुन कर भोजन के लिये आये हुए लोग उसे शर्मिन्दा करने

लगे : 'भले आदमी किसने आकर तुम से कहा था कि गांव को न्यौता दो ? न्यौता दिये बिना तुम्हारा कौन-सा व्याह बिगड़ता था। तुम्हारे सिर में सात धोबा धूल है कि न्यौता देकर हम लोगोंको भूखा वापस लौटा रहे हो।' स्वामीजी ने आगे जाकर कहा—"न्यौता देकर वापिस करने वाले की जो फजीहत होती है—वही उस मनुष्य की होती है—जो वैराग्य पूर्वक साधु बनने के बाद कहता फिरता है : 'मुझ से पूरे आचार का पालन नहीं होता। अभी अनुकूल समय नहीं है, ऐसे साधु को भ्रष्टाचारी न कहें तो और क्या कहें ?"

स्वामीजी ने एक जगह कहा है—"जो दुषम आरे—काल का नाम ले लेकर भ्रष्टाचार का प्रचार करते हैं और कहते हैं—'इस काल के लिये ऐसा ही आचार है। वर्त्तमान काल में दोषों से अधिक बचाव नहीं किया जा सकता'—उन्हें साधु नहीं माना जा सकता।"

स्वामीजी कहा करते—"तांबे के पैसे की भी कीमत है और चांदी के रुपये की भी कीमत होती है। इन दोनों में किसी को पास रखने से सौदा मिल सकता है। परन्तु वेषधारी तो उस नकली रुपये को चलाने वाले की तरह है, जिसे सौदा मिलना तो दूर रहा, जिसकी उलटी फजीहत और होती है।" ढ़ोंग को स्वामीजी खोटा सिक्का समझते थे। उनकी दृष्टि में आचार कुशल साधु ही सच्चा-साधु था और आचार-भ्रष्ट साधु-असाधु। जो केवल भेष में साधु होता, आचार में नहीं, स्वामीजी उसे थोथे चने, समुद्र के फेन, या खाली बादल के साथी कहते। वे कहते—"यदि तुम्हें साधुभाव का पालन असम्भव मालूम दे तो तुम श्रावक ही कहलाओ और अपनी शक्ति अनुसार व्रतों का अच्छी तरह पालन करो। साधु बनकर दोषों का सेवन मत करो। साधु जीवन में ढीलाई लाने की चेष्टा मत करो।" एक बार वेषधारी साधुओं की हिमायत करते हुए किसी ने कहा : "ये अन्य साधु लोग भी साधु का वेष रखते हैं, वे भी गर्म जल, धोवन आदि पीते हैं, भिक्षा मांग कर रोटी खाते हैं,

वर्षों-वर्ष लोच कराते हैं, पैदल विहार करते हैं और शीत—ताप आदि के कष्टों को सहन करते हैं, फिर इनको साधु क्यों नहीं कहा जाय?" स्वामीजी बोले: "जैसे डोमनी को ब्राह्मणी का वेष पहना कर, तिलक-छापा कर देने से ही वह ब्राह्मणी नहीं हो जाती, ब्राह्मण कुल के आचार- विचार रखने से ही कोई ब्राह्मणी होती है—वैसे ही कोई वेष मात्र और वाह्य क्रियाओं से साधु नहीं होता। जिनमें चारित्र और समकित का अभाव है, वे केवल वेष-भूषा से पूज्य कैसे होंगे? जैसे भण्डारी धन की रक्षा करने से उसका मालिक नहीं होता है, वैसे ही केवल वेष की रक्षा से कोई साधुत्व का अधिकारी कैसे होगा?"

इसी तरह से एक बार स्वामीजी ने कहा था: "एक सेठ था, जिसने लाख रुपये का दिवाला निकाला। बाद में वह पैसे का सौदा लाता तो पैसा चुका देता और रुपये का सौदा लाता तो रुपया चुका देता। इस तरह पैसे और रुपयों का साहुकार होने पर भी लाख का तो वह दिवालिया ही था। जैसे पैसे और रुपये की साहुकारी से लाख का दिवाला नहीं धुपता छुटता उसी तरह से जो पाँच महाव्रतों को ग्रहण कर निरन्तर दोषों का सेवन करते हैं, वे बहुत बड़ा दिवाला निकाल चुके हैं। लोच और वेष की साहुकारी से वह नहीं धुपता। दिवाला निकालने पर भी जैसे पैसे और रुपये की साहुकारी हो सकती है—उसी तरहसे शुद्ध मन से तपस्यादि करते हैं, उसका फल उन्हें अवश्य होता है, परन्तु इससे पुराना साधुपन का दिवाला नहीं धुपता।"

साधु वेषधारी दुराचारियों की करतूतों से जिन-शासन का झण्डा नीचा न गिरे और उसकी महिमा धूलि-धूसरित न हो, इसी उच्च भावना से वे ढोंग का खण्डन करते थे। स्वामीजो को यह बात बुरी लगती थी कि कोई धर्म के नाम पर मिथ्या आचार-विचार का प्रचार करे या समय का नाम लेकर चारित्रच्युत हो। वे साधुओं को उनकी मर्यादा और पद-प्रतिष्ठा का ख्याल करा कर ऊँचा उठाना चाहते थे। वे चाहते थे कि साधुओं में पुनः आत्म-गौरव जागृत हो और वे

समझें कि वे ऐसी-वैसी गद्दी के नहीं, परन्तु उदार जिन-शासन के भारवाह हैं। वे साधुओं में संयम की कठोर साधना—अखण्ड साधना देखना चाहते थे और इसलिये जब कभी वे साधुओं को संयम-भ्रष्ट होते देखते—उनको मार्ग से विपरीत आचरण करते देखते—तो उनका हृदय मर्माहत हो जाता। उनको इस बात की बड़ी लज्जा मालूम देती कि भगवान् महावीर के अनुयायी इतने अधः पतित हों। वे शर्म से बड़ी गहरी आत्म-वेदना का अनुभव करते और फलस्वरूप हीनाचार के प्रति—विरुद्ध अपनी समस्त शक्ति को लेकर वे भूझने लगते। स्वामीजी को इस विरोध के कारण लोगों में काफी कटु होना पड़ा। वे अपने जमाने के एक खतरनाक मनुष्य माने जाने लगे। वे इतने भयानक माने जाने लगे कि एक बार उस समय के एक प्रतिष्ठित साधु ने कहा था : "यदि भीखणजी का कटारी से गला काट दिया जाय, तो सारा फिसाद ही मिट जाय।" परन्तु स्वामीजी ऐसी बातों से कंपित होने वाले न थे। अपने प्राणों को तो वे जिन-शासन के उद्धार कार्यके लिये पहले से ही झोंक चुके थे। "यह शरीर तो अंत-पंत जाने का ही है, जिन-शासन की महिमा फिर से खड़ी कर सकूं तो ही मेरी महिमा है और भगवान् का साधु कहलाना सार्थक है।" स्वामीजी इसी भावना से ओत-प्रोत होकर कार्य करते जा रहे थे। उनके जीवन की यही साध थी। 'भेष' की जगह 'गुण' की और 'भेष पूजा' की जगह 'गुण-पूजा' की पुनः स्थापनाके लिये वे रात-दिन प्रयत्न करते रहे और यह प्रयत्न उनके अन्तिम श्वासोश्वास तक चालू था।

स्वामीजी का जीवन एक महान् साधना, उत्कट तपस्या और निरन्तर आत्माभिमुखता और जागरुकता का जीवन था। स्वामीजी स्वयं सच्चे आदर्श साधुत्व की उपासना करते थे और अपने शिष्यों से भी निर्दोष-निष्कलंक आपात पवित्र साधु-जीवन का पालन करवाते थे। वे महान उद्योतकारी पुरुष थे। पूर्णिमा के निर्मल चन्द्रमा की ज्योत्सना की तरह उनकी चारित्र-कौमुदी अपनी सम्पूर्ण छटा और शुभ्रता के साथ चारों ओर विस्तृत रहती। वे दुनिया को और विशेषतः सारे जैन समाज को एक बहुत पवित्र जीवन का सन्देश दे गए। वे एक युगान्तरकारी महान् आदर्शवादी संत थे और जैन आदर्शवाद की प्राण-प्रतिष्ठा के लिए ही जीवित रहे। उनका समग्र जीवन इसी एक साधना का महान् केन्द्रस्थल था।

: ४ :

एक महान् क्राँतिकारी युग-पुरुष

—वह जमाना—

स्वामीजी एक युग पुरुष थे—एक महान् क्राँतिकारी युग पुरुष जिन्होंने दुराचार के काले बादल छेद कर स्वच्छ जीवन का उज्वल प्रकाश दिया। जैन-धर्म के इतिहास में वे एक स्वर्णयुग के श्रष्टा हुए। उन्होंने एक नए जीवन का प्रभात शुरू किया—एक नई सदी उपस्थिति की।

जब हम विक्रम की १९ वीं सदी पर दृष्टि डालते हैं, तो जैन-धर्म की विकृत अवस्था का एक काला युग सामने उपस्थित हो जाता है। वह एक ऐसा जमाना था, जब धर्मका प्रायः तिरोभाव हो चुका था। स्वामीजी के शब्दों में जैसे अनाचार के घनघोर बादल एक साथ उमड़ पड़े हों। शुद्ध दृष्टि और शुद्ध जीवन दोनों का लोप हो चुका था। केवल वेष और ढोंग की वृद्धि हो गई थी। साधुओं में आत्म-साधना का अंश भी नहीं बचा था। फूटे हुए ठीकरे की तरह साधु और श्रावक, दोनों चारित्रहीन हो गए थे। साधु-आचार और कल्प का जरा भी विवेक नहीं था। मठधारियों की तरह साधु स्थानकों में रहने लगे थे। साधु-वेष पेट-पूर्ति का साधन रह गया था। मर्यादा और कल्प को भंग कर एक जगह अधिक रहना, वस्त्र-पात्र तथा अन्य उपकरणों की सीमा का उल्लंघन करना, अशुद्ध आहार पानी का ग्रहण करना—ये सब बातें सहज हो गई थीं। साधु का वेष इस तरह लज्जित कर दिया गया था। चारित्र जैसे भस्म हो रहा हो—धुंआ-धोर हो रहा हो! सूत्र और उनके भावार्थ को साधु भूल चुके थे। जिन-वचनों पर से आस्था—श्रद्धा उठ चुकी थी। केवल वेष ही साधुत्व का प्रतीक बन चुका था। अन्तर विवेक, सच्चा त्याग, सच्चा मुमुक्षु भाव—ये सब अन्तर्ध्यान हो चुके थे। जैसे गुरु थे, वैसे ही श्रावक थे। अलग-अलग गच्छ हो गए थे—और इन गच्छों के अलग

अलग आचार थे। जैन-धर्म के विशाल भवन में ऐसी ही बड़ी दरारें पड़ गयी थीं। यह एक ऐसा जमाना था, जब जैसे कोई घट-घट में अन्धकार छा गया हो—जैसे कोई आंखों पर पट्टी बंध गई हो—जैसे गुण और चारित्र की कोर-कोर खण्डित हो गई हो। शुद्ध साधुओं से अन्तर-द्वेष और हीनाचारियों से अन्तरंग-प्रेम, शुद्धाचार को प्रगट नहीं होने देना और हीनाचार को शुद्ध आचार कह कर अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखने का कपटपूर्ण आन्दोलन करना—यह उस जमाने की विशेषता थी।

: पुनर्निर्माण की रूपरेखा :

स्वामीजी आए—इस तमिस्र-अन्धकारपूर्ण युग पर एक दृष्टि डाली और वैदिक ब्रह्मा की तरह उसके पुनः निर्माणकी एक रूपरेखा खींच ली। उन्होंने सोचा: "गजी, मैमंदी और वास्ती—ये तीनों एक से सूत की बनी हुई चीजें होती हैं परन्तु जैसा बुननेवाला होता है, वैसा ही पोत निकलता है। उसी तरह धर्म के विषय में भी है। जैसा गुरु होगा, वैसी ही उसके चेलों की सृष्टि होगी। अतः गुरु को सृजन करने की—उसे कलापूर्ण सुघड़ बनाने की जरूरत है।" उन्होंने फिर सोचा—"तराजू की डंडी के तीन छिद्र होते हैं—एक बीचमें और एक-एक दोनों किनारों पर। तकड़ी के दोनों पल्ले बीच वाले छिद्र के बल पर ही समतुल रह सकते हैं। बीच वाले छिद्र में थोड़ा भी फर्क होने से—वह ठीक मध्य में न होने से—उसका असर दोनों पल्लों पर पड़े बिना नहीं रह सकता। यदि बीचवाला छिद्र ठीक मध्य में होता है तो दोनों पल्ले भी समान झुके रहते हैं, उन में किसी प्रकार की 'काण'—अन्तर नहीं आता। उसी तरह देव, गुरु और धर्म ये तीन परम पद हैं। यदि वह ठीक होगा—तो उसके बताए हुए देव और धर्म का स्वरूप भी यथातथ्य होगा और यदि गुरु में ही फर्क होगा तो देव और धर्म में भी अन्तर आ जायगा। सच्चे देव और सच्चे धर्म की प्राप्ति गुणवान निर्ग्रंथ गुरु के बिना नहीं हो सकती।" इसलिये उन्होंने स्थिर कर लिया कि पहिले 'गुरु' को बनाना होगा—उसे अपने मध्य में—केन्द्र में स्थिर करना होगा और फिर सब तत्व अपने आप ही अपने केन्द्रों में

स्थित हो जायेंगे। यही उस प्रलय-संहार में से पुनर्निर्माण की उनकी रूपरेखा थी। परन्तु सच्चे गुरु-पद की स्थापना के पहले वंश परम्परागत गुरु के प्रति विमोह-भाव दूर करने के लिये एक भूचाल—एक भूकंप पैदा करने की जरूरत थी और अपने समूचे पुरुषार्थ से वे इस कार्य में जुट गये। उन्होंने टुंकार की—

"जिन भगवान् ने विनय को धर्म का मूल कहा है—ऐसा सब कोई कहते हैं परन्तु उसके रहस्य को बिरले ही समझते हैं।

भगवान् ने विनय पर जोर दिया है परन्तु हर किसी के विनय पर नहीं। भगवान् के वचनों का रहस्य है कि जो सत् गुरु का विनय करता है, वही मुक्ति की नींव डालता है। जो असत् गुरु का विनय करता है, वह संसार-भव से कैसे पार पा सकता है ? जो सत्-असत् गुरु की पहचान नहीं करता, वह मनुष्य जन्म को यों ही खोत है।

कई अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि बाप और गुरु एक समान होते हैं। अच्छा और बुरा क्या, जिसे एक बार मुख से 'गुरु' कह दिया, उसे नहीं छोड़ना चाहिये। परन्तु ऐसा सोचना ठीक नहीं है।

जिन-आगम में कहा है कि परीक्षा करके ही कोई गुरु करे। गुरु की अच्छी तरह—विशेष रूप से कीमत-परीक्षा करनी चाहिये। असत् गुरु की संगति नहीं करनी चाहिये।

भगवान् ने कहा है कि लकीर के फकीर मत बनो। मताग्रही मत बनो। बुरी वस्तु को मालूम पड़ते ही छोड़ दो। जो ऐसा कहते हैं कि गुरु गहला हो या बावला वह देवों का देव है, समझदार चेला सदा उसकी सेवा करे—उन्हें जिन मार्गी नहीं कहा जा सकता।

जिन भगवान् का बतलाया हुआ साधु-मार्ग सो टञ्च सोना है। उसमें खोट —खाद नहीं खटा सकती। चेला चूके—पथ भ्रष्ट हो तो गुरु उसे तत्क्षण छोड़ दे और गुरु चुके तो चेला उसका संग त्याग दे—यही जिन-मार्ग है।

भगवान् ने गुण होने से पूजा करने को कहा है। परन्तु ये तो निर्गुणों की पूजा करते जा रहे हैं! देखो! ये प्रत्यक्ष भूले हैं।

सोने की छूरी सुन्दर होने पर भी उसे कोई अपने पेट में नहीं भौंक सकता उसी तरह कोई भी समझदार व्यक्ति दुर्गति करने वाले वेषधारी गुरु की—फिर वह वंश परम्परागत ही क्यों न हो—विनय-सेवा भक्ति नहीं करता और उसे तुरन्त दूर छिटका देता है।"

गहले, गुरु-गुरु चिल्ला रहे हैं परन्तु सच्चा गुरु कौन होता है, इसकी उन्हें खबर ही नहीं। जो हीनाचारी गुरु का विनय करता है, वह चारों गति में गोता खाता है।"

स्वामीजी की इस हुंकार से मोह के बादल फटने लगे। ढोंग के प्रति एक बगावत पैदा हो गई। शुद्ध साधु और शुद्ध श्रावक-जीवन के प्रति दृष्टि मुड़ गई। स्वामीजी ने श्रद्धा-भ्रष्ट जनता को ललकार कर कहा :

"हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई! तू सच्चे देव का आचार नहीं जानता, न तुम्हें वास्तविक गुरु की कोई खबर है और न तू धर्म का रहस्य जानता है। अरे! तू तो केवल अभिमान में डूबा फिरता है!

हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई! तू नवतत्व का रहस्य नहीं जानता केवल झूठी लपराई—बकवाद करता है। अज्ञान होने पर भी तू अपने को धर्म का धोरी मान बैठा है—यह तुम्हारा कितना भोलापन है!

हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई! तू न जीव को पहचानता है और न अजीव को। तुझे पुण्य की खबर नहीं और न तू पाप की प्रवृत्तियों को समझता है। तू ने तो केवल व्यर्थ झगड़े किए हैं!

हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई! तुम्हारे आस्रव (कर्म आने के द्वार—नाले) खुले दिखाई देते हैं। तुम्हारे संवर—समता का स्पर्श नहीं हुआ। तू ने निर्जरा क्या है—इसका निर्णय नहीं किया। तुम्हारी चतुराई—कुशलता कहाँ चली गई?

हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई! तुझे बंध मोक्ष की कोई खबर ही नहीं, फिर भी तू समदृष्टि नाम धराता है। रे भोले! तुझे कुगुरुओं ने भरमा दिया!

हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई! तू कुगुरुओं से हाथ जोड़ कर समकित ग्रहण करता है परन्तु तुम्हारा अन्तर अज्ञान तो मिटा ही नहीं। तू मिथ्या ही प्रत्याख्यान करता है!

हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई! तू स्वांगधारियों को साधु मानता है और उनके पैरों पर गिर-गिर कर 'तिक्खुत्तो' के पाठपूर्वक उनकी वंदना करता और हर्षित होता है!

हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई! सावद्य करणी पाप की हेतु है, यह तू जानता ही नहीं और न तू यह समझता है कि निरवद्य करणी में धर्म और पुण्य है!

हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई! तू ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नहीं जानां। जिस गुरु जैसी दूसरी वस्तु नहीं उसी का तुम्हें कोई पता नहीं। तू ने मनुष्य-भव पाया फिर भी चार निक्षेपों का निर्णय नहीं किया।

हे प्राणी? तुम्हें समकित कैसे आई। करण योग के भाँगों की तुझे धारणा नहीं और न तुम्हें व्रतों की जानकारी है। तू अव्रत में धर्म की श्रद्धा—मान्यता रखता है। तू ने नर्क की साई दे दी है।

हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई! तू थोथी बड़ाई—अभिमान करता है। न्याय बात तुम्हारे हाथ कैसे आ सकती है। तू खोटे (झूठे) चीज—हेतु दलील लगा कर जिन-आज्ञा के बाहर धर्म बतला रहा है।

हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई! देव तो जिनेश्वर देव हैं और सच्चा धर्म उनके द्वारा बताया हुआ धर्म। यदि तू वास्तवमें चतुर है तो सद् गुरु का संग कर, उपरोक्त सब बातों का निर्णय कर।

हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई। जीव-अजीव के छः द्रव्य किए हैं और

न्यायपूर्वक उन्हें ही नव तत्वों के रूप में बतलाया है। समदृष्टि वह है—जो उपरोक्त तत्वों को अच्छी तरह पहचान कर उन्हें अन्तर में ग्रहण करता है। उसी के घट में श्रद्धादेवी निःशंक रूप से आकर विराजती है।"

ज्ञान की किरणें विकीर्ण हुई। एक शुद्ध प्रकाश छा गया। जैन-धर्म के अमूल्य तत्वों का रहस्य प्रगट हुआ। जैन-धर्म के प्रति लोगों में सच्ची श्रद्धा जागी और इस भूमिका में स्वामीजी ने हीनाचार के प्रति तुमुल आन्दोलन शुरू किया। उन्होंने अपने समय के साधु समाज में आ घुसे शिथिलाचार की धज्जियाँ उड़ाई। जिन आज्ञा विपरीता, आधाकर्मी स्थानक सेवन, अति आहार लोलुपता, दया के रूप में हिंसा प्रचार, वस्त्र वृद्धि, स्वाभिमान को खोकर आहारादि के लिये गृहस्थों की गरज, ज्ञान-सम्पादन के नाम पर अत्यधिक पुस्तक मोह, गृहस्थों से सेवा लेना और गृहस्थों की सेवा करना, धर्म के नाम पर गृहस्थों को आरम्भ कार्योंकी प्रेरणा करना, प्रतिमा-पूजन आदि दोषों की तीव्र आलोचना की और केवल साधु वेश धारण कर वाह्याडम्बर द्वारा भगवान् के नाम को लजाने के लिए फटकारा था। इसी प्रकार उन्होंने गृहस्थों को सच्चे श्रावक बनने की प्रेरणा की और उन्हें विवेक दिया कि हीनाचारी गुरु का सेवन अधःपतन का कारण है। हीनाचारी गुरु का दोष छिपाना मूर्खता है। इससे गुरु और अनुयायी दोनों का पतन होता है।

स्वामीजी कहते जब कोई मनुष्य साधु होता है तो वह सब सावद्य क्रियाओं का त्याग करता है। वह १८ पापों का त्याग कर ६ महाव्रतों को ग्रहण करता है। ज्ञानियों ने इस निष्पाप साधुवृति की रक्षा के लिये अनेक नियम बनाए हैं। ये नियम मूल साधु-धर्मकी रक्षा के लिए जरूरी हैं और इस तरह उतने ही महत्व पूर्ण हैं जितने कि मूल व्रत। जो रक्षा के लिए बनाए हुए नियमों का शुद्धता और दृढ़ता से पालन नहीं करता, वह अपने महाव्रतों और १८ पापों के त्याग को भी नष्ट कर देता है। जिस तरह कृषक को खेत की रक्षा के लिए बाड़ की निरन्तर रक्षा करनी पड़ती है, उसी तरह साधु उप-नियमों की सम्यक् रक्षा करे। वह बाड़ को खेत

से भिन्न न समझे परन्तु उसका जरूरी अङ्ग समझे। स्वामीजी कहते "जो महाव्रतधारी होने का तो डोल करते हैं परन्तु लिये हुए व्रतों का पालन नहीं करते उनके लिए नर्क तैयार है। यह कोई निन्दा की बात नहीं है परन्तु नग्न सत्य है।"* यही कारण था कि स्वामीजी ने भ्रष्टाचार के प्रति तीव्र आन्दोलन उठाया। भगवान ने जिन कार्यों के करने की सूत्रों में मनाही की है उन्हें यदि कोई साधु करे और उनमें धर्म माने तो वह जैन साधु कैसा। जैन धर्म के प्रति बफादारी पूर्ण—यह दलील ही उनकी क्रांति का मूल बीज था।

उन्होंने अपने जमाने के साधुओं के जीवन का गम्भीर अध्ययन किया और जहाँ-जहाँ भ्रष्टाचार या आचारहीनता मालूम दी उसकी तीव्र आलोचना की। जहां विकार दृष्टि गोचर हुए वहां दृढ़ता पूर्वक उनका उद्घाटन कर सच्चे साधु जीवन को प्रस्फुटित करने की भरसक चेष्टा की। शिथिलाचार के प्रति उनकी क्रान्ति का स्वरूप और उसकी व्यापकता का दिग्दर्शन उनके निम्नलिखित विचारों से होगा।

—अकल्प्य दोष—

"भगवान की आज्ञा है कि संयम में स्थिर चित्त मुनि कभी भी अकल्पनीक आहार, वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, स्थानक, शय्या आदि ग्रहण न करे (दश-वैकालिक सूत्र अ० ६ गा० ४७।४८)।१

जो अकल्प्य वस्तु को ग्रहण करता है उस साधु में बड़ी खोट है। आचाराङ्ग सूत्र के पहले श्रुतस्कंध में भगवान ने ऐसे साधु को चोर कहा है।२

—औद्देशिक दोष—

साधु के निमित्त बनाए गए आहार, वस्त्र, कम्बल, रजोहरण, स्थानक, शय्या, शासन आदि औद्देशिक कहलाते हैं। औद्देशिक वस्तुएं अकल्प्य होती हैं। साधु इनका सेवन न करे।

---

*लोधा व्रत न पालसी, खोटी दिष्ट अयाण।
तिणने कही छै नारकी, कोई आप म लेज्यो ताण॥

१—सा० आ० ३।४; २—सा० आ० ३।१२।

जो औदेशिक वस्तुओं का सेवन करता है उसे अनाचारी, भ्रष्ट और नर्कगामी कहा है (दश वैकालिक सू० अ० ३ गा० २; अ० ६ गा० ७; उत्तराध्ययन सूत्र अ० २० गा० ४७) ।१

—क्रीतकृत दोष—

साधु के निमित्त खरीदे गये आहार, वस्त्र आदि अकल्प्य और सदोष हैं। साधु अपने निमित्त क्रीत वस्तुओं का सेवन न करे—ऐसी भगवान की आज्ञा है।

जो साधु अपने लिए खरीदी हुई वस्तुओं को ग्रहण करता है वह महा दोषी है। वह साधु-भाव से पतित होता है। निशीथ सूत्र के १९ वें उद्देशक में उसे नग्न—व्रत विहीन—कहा गया है।२

जो साधु, पुस्तक, पात्र, उपासरादिक, अच्छे बुरे बतला कर, मोल लिराता है, वह साधु गृहस्थ का काम करता है ।

वह तो खरीदने और बेचने वालों के बीच दलाल का काम करता है।

क्रय विक्रय की प्रवृत्ति साधु के लिए महा दोष है—ऐसा उतराध्ययन सूत्र (अ० ३५) में उल्लेख है ।३

—नित्य पिण्ड दोष—

रोज-रोज एक ही घर से आहार आदि की भिक्षा करना, अकल्प्य कार्य है; साधु रोज-रोज एक ही घर की भिक्षा न करे—ऐसी भगवान की आज्ञा है।

जो साधु रोज-रोज एक ही घर की गोचरी करता है, वह प्रत्यक्ष रूप से हिंसा का अनुमोदन करता है (दस वैकालिक सूत्र अ० ६ गा० ४९) तथा सबल दोष का भागी होता है (दशाश्रुत स्कंध, दशा० २, गा० ४) । ४

जिस घर से पहले दिन अशन आदि चारों आहार लेते हैं उसी घर से दूसरे

१—सा० आ० १।१,२,३; २—सा० आ० १।२७,२५,२८;

३—सा० आ० ३।७,८,९; ४—सा० आ० १।३७;

दिन विहार करते समय भिक्षा ग्रहण कर लेते हैं। यह प्रत्यक्ष नित्य पिण्ड है। गोचरी—भिक्षा के नियमों को इस तरह भंग करने से आचार कहां रहता है? कलालादिक के घर से गर्म जल भी रोज-रोज लेते हैं। जिस पाड़े—मुहल्ले में पहले दिन एक दो सिंघाड़े गोचरी कर जाते हैं दूसरे दिन उसी संघ के अन्य सिंघाड़े उस पाड़े में गोचरी करते हैं। एक ही टोले के साधु-साध्वियों का इस तरह गोचरी करना प्रत्यक्ष नित्य पिण्ड है और अनाचार है। अनाचारी को साधु कैसे माना जाय?

—औदेशिक स्थानक—

कई वेषधारी साधु, साधुओं के निमित्त बनाए हुए स्थानकों में उतरते हैं। ऐसा करने वाले भगवान की अवज्ञा करते हैं। भगवान ने कहा है कि साधु खुद घर न बनावें और न दूसरों से बनवावे स्थूल और सूक्ष्म, हलते-चलते और स्थिर जीवों की हिंसा होने से संयमी मुनि को घर बनवाने की क्रिया छोड़ देनी चाहिए—ऐसा भगवान ने (उत्तराध्ययन सू० अ० ३५ गा० ८,९ में) कहा है। भगवान की ऐसी आज्ञा होने पर भी ये जैन साधु मठाधीशों की तरह औदेशिक स्थानकों में रहते हैं और तुर्रा यह है कि अपने को सच्चा अहिंसाव्रत धारी साधु कहने में जरा भी संकोच नहीं करते। जो साधु औदेशिक स्थानक में रहता है वह अहिंसा महाव्रत से पतित होता है। भगवती सूत्रमें उसे दया रहित कहा गया है। वह मरकर अनन्त जन्म मरण करता है।१

अपने निमित्त बनाए गए स्थानक या उपासरे में रह कर भी जो साधु यह कहता है कि उसे सर्व सावद्य कार्यों का त्याग है, वह दूसरे महाव्रत से गिरता है। ऐसा कहना कि यह मेरे लिए नहीं बनाया गया, कपट पूर्ण झूट के सिवा और कुछ नहीं।२

१—सा० आ० २।१; २—सा० आ० २।२;

अपने निमित्त बनाए हुए स्थानक में रहने वाले साधु को स्थानक बनाने में जिन जीवों की हत्या होती है, उनके शरीरकी चोरी लगती है तथा अरिहन्त भगवान की आज्ञा के लोप करने से तीसरे महाव्रत का भंग होता है।१

जो स्थिर स्थानक रखते हैं, उनके, मठाधीश की तरह, अपने स्थानक से ममता लगी रहती है। इस तरह पांचवां महाव्रत उनसे दूर हो जाता है। २

आचार भ्रष्ट - शील रहित—होने से चौथे और छट्टे महाव्रत का लोप होता है। ३

जो छः कायमें से एक काय के जीवों के भी आरम्भ में प्रवृत होता है वह छः काय का आरम्भ करने वाला होता है। उसी तरह जो एक व्रत भंग करता है, वह छवों ही व्रतों को भङ्ग करने वाला है।४

जो इस तरह के बड़े-बड़े दोषों का सेवन करते हैं उन्हें विचक्षण पुरुष किस तरह संयमी मुनि मान सकते हैं?५

स्थानक बनाने के निमित्त धन देने वालों की प्रशंसा कर जीवों की घांत मत कराओ।६

स्थानक कराने में धर्म बतला कर भोले लोगों को भर्ममें मत डालो। अपने रहने के लिये जगह बनवाने के लिये क्यों जीवों को मरवाते हो?७

जो साधु के निमित्त स्थानक बनाता है या मोल लेता है वह दुर्गति को प्राप्त करता है। उसको बुरे-से-बुरे फल मिलेंगे। जो साधु ऐसे स्थानक में रहता है वह महा दोष का भागी होता है और अपने साधुत्व को डुबोता—खो बैठता है।८

१—सा० आ० २।३; २—सा० आ० २।४; ३—सा० आ० २।५; ४—सा० आ० २।६; ५—सा० आ० २।७; ६—सा० आ० २।१०; ७—सा० आ० २।११; ८—सा० आ० २।१२।

—शय्यातर पिण्ड दोष—

जो शय्यातर पिण्ड को ग्रहण करता है और दोष छिपाने के हेतु कपट से काम ले घर स्वामी को छोड़ अन्य की आज्ञा लेता है—वह सरस आहार का लम्पटी है। उसे साधु कैसे माना जाय ?१

ऐसा करने वाला सबल दोष का सेवी है जिसके लिये निशीथ सूत्र में गहरा दण्ड कहा गया है। ऐसों को दशवैकालिक सूत्र में अनाचारी कहा है। जो भगवान की शिक्षाको नहीं मानता—उसे साधु कैसे समझा जाय ?२

—अभिहृत दोष—

कई गृहस्थ जीमनवारसे धोवण, जल और मांड अपने-अपने घर ला साधुओंको बहराते—देते हैं। वे साधुत्व को भ्रष्ट करते हैं। जो साधु जान-बूझ कर ऐसी अशुद्ध वस्तुएं ग्रहण करता है, उसने मुनि-आचार का लोप कर दिया। जो खुले आम सामने लाया हुआ ग्रहण करता है उसे अणगार कैसे कहा जा सकता है ?३

जो सामने लाया हुआ आहार लेता है वह प्रत्यक्ष हीनाचारी है—यह दशवैकालिक सूत्रे में देख सकते हो।४

—अशुद्ध घर दोष—

जो घर अशुद्ध हो जाता है, उस दिन उस घर की गोचरी नहीं कल्पती। जो साधु उसी दिन उस घर की गोचरी करता है वह भागल—भ्रष्टाचारी की पंक्ति में सुमार होता है। ऐसे दुराचार से साधु वेश होने पर भी दुर्गति होगी।५

—अनिरीक्षण दोष

ये कपड़े और पुस्तकों को आले में डाल कर ऊपर में अच्छी तरह गारा लीप देते हैं। मास ६ मास उसे नहीं खोलते। इससे उस आले में जीवों के जाल

१—सा० अ० ६।५; २—सा० आ० ६।६; ३—सा० आ० ४।३-४; ४—सा० आ० ४।५; ५—श्र० आ० ११, १६,१७।

जम जाते हैं। अनेक जीव उत्पन्न होते और मरते हैं। यह उनकी पडिलेहना —प्रतिलेखन कीच रम सीमा है। उनके घट से चारित्र एक बार ही दूर चला गया।१

—परदा दोष—

ये स्थानक के सामने अपने हाथ से परदा बांधते और खोलते हैं। इस में दोष नहीं मानते। इस तरह साधुत्व कैसे पलेगा? वर्षा के कारण परदे के नीलण फूलण—काई आ जाती है। परदा इकट्ठा करने से इन जीवों के ताला सा लग जाता है। इससे साधु को जीव हिंसा का पाप होता है। परदा द्रव्य है—परिग्रह है—इसके सेवन से चरित्र की विराधना होती है। जो साधु के लिये परदा बांधते हैं और जो साधु ऐसे परदे का सेवन करते हैं, वे दोनों ही कर्मों से भारी होते हैं।२

—मर्यादातीत विहार—

कारण बिना ही ये एक जगह एक महीने से अधिक रहते हैं और इसी तरह चातुर्मास के बाद भी बिना कारण उसी जगह रह जाते हैं। ये कल्प को इस तरह भंग कर भगवान की मर्यादा को लोपते हैं। कल्प—मर्यादा—भंग करते हुए जिनके मन में जरा भी विचार नहीं आता उनको कोई अज्ञानी ही साधु समझ सकता है। ३

—विपरीत चर्या—

जब गृहस्थिनी स्थानक लीपने आती है तो आर्याएं गारे में धोवन डालती हैं, कई आर्याएं हाथ से दड़ लीपती हैं, कई गारे के पिण्डों को हाथ में रख कर सहारा देती हैं—इस तरह खुले आम जिन-शासन से विपरीत आचारण करती हैं।४

—प्रतिमा पूजन—

ये दीपक जला धूप खेते हैं। फूलों की कच्ची कलियां तोड़ प्रतिमा पर चढ़ाते हैं और उसे जल से स्नान कराते हैं। ऐसा कर हृदय में हर्षित होते हैं।

१—श्र० आ० १८।२४,२५ २—श्र० आ० १८।२६।२८,२९;
३—श्र० आ० १८।३१,३९,४२, ४—श्र० आ० १८।४७,४८।

जिन पुरुषों के अद्भुत नाम-स्मरण से कोटि-कोटि कर्मों का नाश हो जाता है, उन पुरुषों का मैल उतारने वाला पुत्र किस मां ने उत्पन्न किया है ?

फूलों में असंख्यात जीव हैं—ऐसा भगवान ने कहा है। फूल चढ़ाने में धर्म है—ऐसा प्रचार कुगुरुओं के वचनों में ही हो सकता है।

इस बात को वही सच्चा मानते हैं जिनके अत्यन्त कर्म हैं और जो बहुल संसारी हैं। कुगुरु नर्क जाने के लिये बर बने हैं और इन श्रावकोंको जानी के रूप में साथ ले लिया है।

जो यह प्ररूपणा—प्रचार करते हैं कि प्रतिमा पर पींछी फेरने से सौ उपवास का धर्म होता है—वे मनुष्य भव को यों ही खोते हैं—वे केवल पींछी फेरते ही रह जाते हैं।

यदि प्रतिमा के सामने पग भरने से ही तेले का फल बताया जाता है तो फिर उपवास, बेला, तेला आदि कर कौन कष्ट पावेगा ?

भगवान के दर्शन के लिये जाने पर श्रावक सचित्त अलग कर देते थे परन्तु देखो ये तो भगवान कह कर प्रतिमा के मस्तक पर फूल चढ़ाते हैं।

'प्रतिमा पर फूल चढ़ाने से लाख उपवास का फल होता है' - ऐसी झूठी प्ररूपणा करने वाले नर्क की साई देते हैं।

जो रात में भूलते हैं वे आशा कर सकते हैं कि सूर्योदय होने पर वे ठीक रास्ता पा लेंगे परन्तु दिनके दुपहरमें भूला हुए रास्ता पानेकी कैसे आशा कर सकते हैं ?[1]

—श्वान-वृत्ति—

ये सुबह जिस घर से आहार लाते हैं, दुपहर में फिर उसी घर जाकर घूघरी आदि बहरते हैं और शाम को गर्म रोटी दाल ले आते हैं—यह खोटी चाल है। बिना कारण शाम को गर्म बहरना बिलकुल विपरीत हैं।[2]

१—जैन भजन प्रकाश (प्रथम भाग): 'चतुर विचार की ढाल' पृ० ७४,

२—श्र० आ० १६।२४,२५,२९।

जिस दिन शामको त्योहार होता है उस दिन सुबह की गोचरी टाल देते हैं और शाम को घर-घर भटकते हैं। प्रभात में आहार मिलने पर भी जो नहीं लेते और शामके त्यौहार के आहार की गृद्धि रखते हैं—उनके दिन भर ताना-बेजा लगा रहता है। वे दिन भर आर्तध्यान में समय बिताते हैं और शाम को घृतपूरित मिष्टान्नादि बहर कर मानों त्योहार मनाते हैं। इस तरह जो रस गृद्ध हैं और ताजे आहार पर टूटे पड़ते हैं उन्हें समाधि कैसे प्राप्त होगी। वे व्यर्थ ही साधु नाम धराते हैं। जो ठूंस ठूंस कर सरस आहार खाते हैं वे विकल हैं। उनके साधुत्व में धूल है। जो रसगृद्धि और जिह्वा के लम्पटी हैं उनका वेष दूषित है। जो बिना कारण और केवल त्यौहार होने से शाम को गोचरी करते हैं उन्हें तीन धिक्कार है।१

—एक द्वार दोष—

भगवान ने यह मर्यादा बांधी है कि जिस गाँव, नगर, पुर, पाटन और पाड़े से निकलने का एक ही रास्ता हो वहाँ साधु साध्वी दोनों न रहें।२

एक ही दरवाज से आने जाने से लोगों का विश्वास उठ जाता है और व्रत भंग होने की भी नौबत आ जाती है। इसीलिए उपरोक्त मर्यादा बांधी गयी। परन्तु देखो! यह तो प्रत्यक्ष अन्याय हो रहा है—भगवान की आज्ञा के विपरीत, दो द्वार होने पर भी, ये एक ही द्वार से आना-जाना कर रहे हैं। बृहत् कल्प देख कर इस दोष का निर्णय करो।३

—कटक वसति—

गांव नगर के बाहर फौज के पड़ाव में एक रात भर भी रहना जिन-आज्ञा में नहीं है। एक रात पड़ाव में रहने वाले को चार मास का छेद बृहत् कल्प के तीसरे उद्देशक में कहा है। ऐसे दोष को जो जानकर सेवन करता है, उसने जिन-शासन की मर्यादा को छोड़ दिया। ऐसे भ्रष्टाचारी का कौन बिश्वास करेगा?४

१—श्र० आ० १६।२९-३६; २—सा० आ० ४।७;
३—सा० आ० ४।६,८,९,१० ४—सा० आ० ४।१६,१७,१८।

—विहार दोष—

संघ में और साध्वियों के होने पर भी तथा बिना किसी कारण के केवल दो ही साध्वियों का साथ रहना प्रत्यक्ष दोष है। केवल दो ही साध्वियों का साथ रहना व्यवहार सूत्र के पाँचवें उद्देशक में वर्जित है।

बिना कारण अकेली साध्वी का गोचरी जाना अथवा शौचादि के लिए जाना प्रभु-आज्ञा के विपरीत है। तथा साध्वी को अकेले रहना बृहत् कल्प, उद्देश ५ में वर्जित हैं। इसी तरह की और भी बहुत सी बातें वहां हैं।

—चश्मा लगाना—

काच रखना शास्त्रों में मना है। परन्तु आज के साधु चश्मा रखने लगे हैं और उसमें थोड़ा ही दोष समझते हैं। जो ऐसा समझते हैं, उन्होंने पाँचवें परिग्रह विरमण व्रत को भंग कर दिया है। वे जिन-भगवान की आज्ञा के चोर—उसे लोप करने वाले हैं।१

—निमन्त्रित ग्रहण—

गृहस्थ घर से आकर कपड़ों के लिये साधु को बुला कर ले जाय और इस तरह साधु जाकर बहर ले तो उसमें चारित्र किस तरह कहा जाय?२

सामने लाया हुआ लेना अथवा बुलाने आने पर जाकर लेना—ये दोनों ही भारी दोष हैं। वीर भगवान के अनुयायी इन दोनों ही दोषों से बचते हैं। जो इन दोषों का सेवन करता है, वह शुद्धाचारी साधु नहीं।३

—सचित ग्रहण—

धोवन में वनस्पति और भींगे हुए धान के कण रहते हैं। ऐसे सचित्त धोवन को ग्रहण करने में जो संकोच नहीं करते, वे परभव से नहीं डरते। उन्हें साधु कैसे कहा जाय?४

ऐसा अन्न, पानी भोगने वाले, सूत्रों के अनुसार चोर की श्रेणी में आते हैं।५

१—सा० आ० ६।१३; २—सा० आ० ६।१५; ३—सा० आ० ६।१६; ४—सा० आ० ६।१७; ५—सा० आ० ६।१

—बोल थोकड़े लिखना लिखवाना—

गृहस्थ के लिए सज्झाय बोल थोकड़े लिख कर देने से साधु को दोष लगता है तो फिर लिखवा कर देने और अनुमोदना करने से भी दूसरे और तीसरे भङ्ग से दोष लगता है। जो ऐसा करते हैं, उन्हें साधु कैसे समझा जाय?१

—दड़ लीपना—

जो साधु स्थानक में दड़—बिल लीपता है वह जिनेश्वर भगवान को आज्ञा को भंग करता है। दसवें अंग में, तीसरे व्रत की तीसरी भावना में इस कार्य की मनाही की गई है। ऐसा कार्य करने वाला वेष को निन्दित करता है। उसे साधु कैसे समझा जाय ?२

—अठारह स्थानक और बावन अनाचार—

जिनेश्वर देव ने १८ स्थानक बतलाए हैं। जो एक की ी विराधना करता है उसे भगवान ने बाल कहा है। उसे साधु मत जानो।३

जिन आगम में ५२ अनाचार और ४२ दोष बतलाए गये हैं। इन दोषों के सेवन से और सेवन कराने से महाव्रतों का विनाश होता है।४

—जीमनवार गोचरी—

जीमनवार में गोचरी के लिए जाना साधुओं का आचार नहीं है। इसकी मनाही आचारांग, वृहत् कल्प, उत्तराध्ययन और निशीथ—इन सब सूत्रों में को गई है। जो पांत के बैठे २ बिना आलस्य जीमनवार में जा पात्र भर-भर सरस आहार लाते हैं, उन्होंने साधु वेश की लज्जा खो दी है।५

—उपकरण दान—

जो गृहस्थ को लोट, पात्र, पूठे, पड़त, रजोहरण और पूञ्जनी देते हैं, वे साधु के वेश को पहनते हुए भी भ्रष्ट हैं। पूछने पर कहते हैं कि हमने उन्हें परठ

१—सा० आ० ६।१९; २—सा० आ० ४।६०,६१; ३—सा० आ० ४।३; ४—सा० आ०२।८; ५—सा० आ०३।२०,२१

दिया परन्तु जरूरत पड़ने पर वापिस ले लेते हैं। अन्तर चाह नहीं मिटी और कहते हैं कि हमने परठ दिया—यह कितनी कपट है! आचारांग और उत्तराध्ययन सूत्र में एकान्त में जाकर परठने का विधान हैं, फिर गृहस्थ को देकर परठ ने का क्या अर्थ हुआ? गृहस्थ को अल्प उपधि देने से ही सर्व व्रत भङ्ग होते हैं। निशीथ में चौमासी दण्ड कहा है। गृहस्थ को देने वाला साधु जैन धर्म की टेक को छोड़ता है।१

—इर्या समिति—

ये कहने मात्र के साधु हैं। इनकी चाल बिना अंकुश के हाथी और बिना लगाम के घोड़े की तरह है। इनके हृदय में छह ही काय के जीवोंके प्रति अनुकम्पा नहीं है। ये गुण बिना ही अपने को साधु कहते हैं। इसका परमार्थ बिरले ही समझ सकते हैं। आचारांग और उत्तराध्ययन में स्पष्ट कहा है कि चलते २ बात करने से तथा ऊँची तिरछी दिशाओं में ताकने से छह ही काय के जीवों की घात होती है। दबक-दबक कर शीघ्र चलने से त्रस-स्थावर जीव मारे जाते हैं। इर्यासमिति को पालन किए बिना चलने से कोई कैसे साधु होगा?२

—वस्त्र गृद्धि—

लम्बे अर्ज का कपड़ा पहन कर इन्होंने वस्त्र मर्यादा का लोप कर दिया। ये दोहरा कपड़ा—अधिक वस्त्र रखते हैं पर पूछने पर झूठ बोलते हैं। जो मर्यादा से अधिक उपग्रण रखता है वह बड़ा अन्याय करता है। निशीथ के सोलहवें उद्देशक में इससे चौमासी चारित्र का छेद बतलाया गया है।३

—आहार गृद्धि—

बिना मर्यादा सरस आहार लेने से देह की लोथ बढ़ जातो है। बिगइ का

१—सा० आ० ३।३०,३१,३२,३४; २—सा० आ० ३।३५-३७,३९; ३—सा० आ० ३।४०,४२

अत्यधिक सेवन कर जो काया को हृष्ट-पुष्ट कर माँस बढ़ाता है, वह विषय वृद्धि से स्त्रियों को बुरी नजर से देखने लगता है और साधुत्व से भ्रष्ट हो जाता है। १

—उपधि-पडिलेहन—

कई साधु पुस्तकों के ढेर के ढेर अपने पास रखते हैं। जब उनसे कोई प्रश्न करता है कि इतनी पुस्तकों की पडिलेहना किस तरह होती है, तब वे उत्तर देते हैं कि पुस्तक-पडिलेहन की बात किसी सूत्र में नहीं आई है। ऐसा उत्तर देना मिथ्या बोलना है। जो आचार का पालन नहीं कर सकते, वे अपना दोष छिपाने के लिये ऐसा कहते हैं।

वे यह भी कहते हैं कि जो चीजें हम उपयोग में लाते हैं, उनकी पडिलेहना करते हैं, जो चीजें उपयोग में नहीं आ रही हों, उनकी पडिलेहना नहीं करने में दोष नहीं—परन्तु ऐसा कहना भी आगम-संगत नहीं है।

साधु को रोज-रोज पडिलेहना करनी चाहिये—ऐसा भगवान ने दसवैकालिक, आवश्यक, उत्तराध्ययन आदि सूत्रों में स्थान-स्थान पर कहा है। जो अपनी एक उपधि भी पडिलेहना बिना रखता है, उसके लिये भगवान ने मासिक दण्ड बतलाया है।२

पुस्तकों के ढेर बिना पडिलेहन किये रखने से उनमें जीवों के जाल जम जाते हैं, चौमासे में नीलण-फूलण आ जाती है। चींटी, कुंथवे आदि जीव उत्पन्न होते और मरते हैं। इस प्रकार अनेक जीवों का नाश होता है।

इस तरह पुस्तकें बिना पडिलेही रखने से पूरा पाप लगता है। जो पाप नहीं मानते, उनकी समझ उल्टी है। वे बिना समझे झूठी पक्षपात करते हैं।

जो पुस्तकों को बिना प्रतिलेखन रखते हैं, उनके सदा असमाधि रहती है। अनेक जीवों की घात करने से उन्हें साधु नहीं कहा जा सकता। मुनि अपने वस्त्र, पात्र, बिस्तर, पाट-बाजोट तथा शास्त्र आदि पडिलेहन करने में कभी चूक न करे।३

१—सा० आ० ३।३९,४१; २—निशीथ सूत्र द्वितीय उद्देशक

३—श्र० आ० ११६-१२६

—उपयोग अनाचीर्ण—

गर्मी की ऋतु में गृहस्थ के वर्तनों में जल ठारना—ठण्डा करना और मत माने जब इन वर्तनों को वापिस सौंप देना—यह कार्य भगवान की आज्ञा सम्मत नहीं है। गृहस्थ के वर्तनों में अन्नादि का भोजन करने वाला साधु, निर्ग्रन्थ भाव से भ्रष्ट होता है—ऐसा दसवैकालिक सूत्र के छठे अध्ययन में कहा है। इसलिए उपरोक्त चाल चलने वाले को साधु मत समझो।१

—संग्रह वृति—

औषधादि बहर कर बासी रखना, या रात के समय किसी गृहस्थ के यहां रख आना और सुबह होने पर उसके यहाँ से वापस ले आना—इस प्रकार रात बासी चीजें रखना और अपनी चीजों को गृहस्थों को सौंपना—ये दोनों ही बड़े दोष हैं। इस तरह उपयोग में भी खामी आती है—जो तीसरा दोष है। पूछने पर वे यह कहते हैं कि हमने कोई चीज बासी नहीं रखी—यह प्रत्यक्ष झूठ है। औषध आदि को बासी रखने से व्रतों का भंग होता है। दसवैकालिक के तीजे अध्ययन में इसे अनाचार कहा है। इसलिये उपरोक्त चाल चलने वाले को साधु मत समझो।२

गृहस्थों से पाट—बाजोट आदि लाकर जो उन्हें लौटाने की इच्छा नहीं रखते और मर्यादा लोप कर उन्हें सेवन करते हैं, उन्होंने जैन आचार को छोड़ दिया है। वे साधु कैसे माने जायेंगे ?३

—गृहस्थों को आशीर्वाद—

जब गृहस्थ आकर वंदना करे तो उसके मस्तक पर हाथ रखना—यह

१—सा० आ० ४।३०,३१; २—सा० आ० ४।३६-३९;
३—आ० चा० ६।३०

प्रत्यक्ष ही कुगुरु की चाल है। जो गृहस्थ के मस्तक पर हाथ रखता है, उसे गृहस्थ के बराबर समझो। जो गृहस्थ के मस्तक पर हाथ रखता है, वह गृहस्थ से संभोग करता है, उसके योगों में रोग लग गया समझो, उसे साधु कैसे समझा जा सकता है ? ऐसा करना प्रत्यक्ष भगवान की आज्ञा के विपरीत है—यह दसवैकालिक, आचारांग और निशीथ सूत्र से मालूम किया जा सकता है। ऐसे आचार वाले को साधु मत समझो। १

—अयोग्य दीक्षा—

जो चोर, ठग और जल्लाद की तरह भोले लोकों को उचका कर, उन्हें किसी दूसरी जगह ले जा कर मूंडते हैं, जो आहार-वस्त्रादि का लोभ-लालच दिखा कर किसी को साधु का वेष पहनाते हैं—उन्हें साधु मत समझो। २

जो इस प्रकार चेले कर अपने मत को बढ़ाते हैं, वे गुणहीन वेष को प्रोत्साहन देते हैं। वे साधुत्व का ढोंग रच कर कर्मों से विशेष भारी होते हैं।३

जो इस प्रकार मूंड-मूंड कर इकट्ठे किये गये हैं, उनसे साधु आचार किस प्रकार पलेगा ? वे तो भूख, तृषा के परिषह से घबड़ा कर अशुद्ध आहार आदि लेने लगेंगे।४

अज्ञानी व अयोग्य को दीक्षा देने से चारित्र का खण्डन होता है। इसके लिये निशीथ के ग्यारहवें उद्देशक में चौमासिक दण्ड बतलाया गया है।५

जो विवेक-विकल बालक-बूढ़ों को, जिन्हें नव पदार्थ का जरा भी बोध नहीं, सांग पहराता है, उसे साधु मत समझो।६

शिष्य करना हो तो उसे ही करना चाहिये जो चतुर और बुद्धिमान हो तथा जिसे नव पदार्थ का ज्ञान हो, नहीं तो अकेला ही रहना चाहिये—ऐसा उत्तरा-

---

१—सा० आ० ४।४९-५२; २—सा० आ० ४।५३-५४

३—सा० आ० ४।५५; ४—सा० आ० ४।५६

५—सा० आ० ४।५७; ६—४।५८, उ० आ० ११।२१-२३

ध्ययन सूत्र के ३२ वें अध्ययन में कहा है। जो इसके विपरीत दीक्षा देता है, उसे साधु मत समझो।१

जो केवल पर निन्दा में डूबे रहते हैं, जिनके मन में जरा भी सन्तोष नहीं है, उनमें तेरह दोष हैं—ऐसा वीर भगवान ने दसवें अंग में कहा है। जो यह कहते हैं कि यदि दीक्षा लो तो मेरे ही हाथ से लेना, दूसरों के हाथ से नहीं तथा जो इस प्रकार के सौगन्ध दिला देते हैं, वे प्रत्यक्ष उल्टी चाल चलते हैं, ऐसी चाल से किसी को साधु नहीं समझना चाहिये। ऐसा नियम कराने से ममता लगती है, गृहस्थ से परिचय बढ़ता है। इसका दण्ड भगवान ने निशीथ के चौथे उद्देशक में कहा है।२

ये जो गृहस्थों से रुपये दिलवा-दिलवा कर चेलों को मूंडते हैं, उन्हें साधु मत समझो। इस प्रकार चेले करने की रीत बिलकुल उल्टी है। अयोग्य को दीक्षा देना, भगवान की आज्ञा के बाहर है। ऐसा कार्य करने वाले बिलकुल बिटल—भ्रष्ट हैं।३

—संदेश समाचार—

गृहस्थ के साथ संदेश कहलाने से उसके साथ संभोग होता है।—जो इस प्रकार संदेश कहलाते हैं, उनको साधु किस प्रकार समझा जाय? उनके योगों को रोग लगा समझो।४

गाँव-नगर समाचार भेजने के लिये जो संकेत कर गृहस्थों को बुलाकर उन्हें खोल-खोल कर समाचार बता कागद-पत्र लिखवाते हैं—गृहस्थों का हाथ चलवाते हैं, उन्हें साधु मत समझो।५

गृहस्थ से सेवा लेने वाले साधु को भगवान ने अनाचारी कहा है। ऐसा

१—सा० आ० ४।५९; २—सा० आ० ३।१७-१९

३—सा० आ० ३।२२-२४; श्र० आ० ११।१

४—सा० आ० ३।२७; ५—श्र० आ० ११।२५; सा० आ० ३।२८

दसवैकालिक सूत्र के तीसरे अध्ययन में साफ लिखा है। बुद्धिमान इस पर विचार करें।१

—सन्मान—

किसी बड़े गृहस्थ को आया हुआ देख कर जो हाव भाव से हर्षित होते हैं और उनके लिये आसन आदि बिछाने की आमना करते हैं, उनको साधु मत समझो।२

जो साधु गृहस्थ को आने-जाने, बैठने-उठने के लिए कहता है और ऐसा करने के लिए जगह बतलाता है, उस साधु और गृहस्थ में कोई अन्तर नहीं। ऐसी चाल से किसी को साधु मत समझो।३

—पात्र गृद्धि—

जो मर जाते हैं या निकल जाते हैं, उनके पात्रों के प्रति भी इनकी ममता नहीं छूटती। वे इन पात्रों को स्थानक में धर लेते हैं। जब लोट पात्रों के ढिग को देख कर कोई पूछता है कि इतने एक साथ कहाँ से आए तब कहते हैं कि ये गृहस्थ के हैं, इस तरह जो अलग होने की चेष्टा करते और झूठ बोलते हैं, उनमें साधुत्व की कोर भी नहीं होती। गृहस्थ को लोट पात्रे किस लिए चाहिए और फिर वह स्थानक में क्यों रखने लगा? जब जरूरत पड़ती है तो वे इनमें से ले लेते हैं और मरने-खपने से बढ़े हुए पात्र इनमें रख देते हैं। ये लोट और पात्रों के कोठागार निश्चय ही उन्हीं के हैं। जो अपनी सामग्री को गृहस्थ की बतलाता है, उसे साधु कैसे कहा जाय? जो मर्यादा से अधिक उपधि रखते हैं, वे महा दोषी हैं। जो अधिक रख कर पडिलेहन नहीं करते, वे तो निश्चय ही दोहरे चोर—भगवान की आज्ञा के लोपक हैं। ४

१—श्र० आ० ११।१६ २—सा० आ० ६।१४; ३—सा० आ० ३।२९; ४—श्र० आ० १८।५१-५६

— उपधि संरक्षण —

गृहस्थ को अपनी उपधि—वस्तुएं सौंपना यह साधु का आचार नहीं है। ऐसा करने वाले साधु जिन-प्रवचन का पालन नहीं करते और मुक्ति-मार्ग से भिन्न मार्ग को पकड़े हुए हैं।१

जो गृहस्थ से अपनी वस्तुओं की देखभाल करवा कर उसे सेवक बनाता है उसे साधु कैसे माना जाय ? ऐसा साधु अपने समस्त व्रतों को चकनाचूर करता है और प्रत्यक्ष साधु-भाव से दूर होता है। २ जो अपनी वस्तुओं की सार सम्हाल का भार गृहस्थ को दे जाते हैं वे भगवान के वचनों को कुचलते हैं।३

गृहस्थ सौंपी हुई वस्तुओं को जरूरत पड़ने पर एक जगह से दूसरी जगह हटाता है। इस तरह गृहस्थ से जो हिंसा होती है उसका भागी वह साधु भी होता है। गृहस्थ से बोझ उठवाने वाले साधु को निशीथ सूत्र के बारहवें उद्देश में चौमासी चारित्र का छेद कहा है। ४

जो अपनी उपधि को एक दिन के लिये भी बिना प्रत्यवेक्षण रखता है उसे निशीथ सूत्र के दूसरे उद्देशक में मासिक दण्ड कहा है। गृहस्थ के घर धरी हुई उपधियां महीनों वर्षों पडिलेहन बिना रहती हैं। ऐसी हालत में गृहस्थ के घर उपधि रख कर जाने वाले साधु को साधु कैसे समझा जाय ? ५

—क्षेम कुशल प्रश्न—

जो साधु गृहस्थ से क्षेम-कुशल प्रश्न करता है वह अव्रत का सेवन करता है। ऐसे साधु को दसवैकालिक सूत्र में अनाचारी कहा है। गृहस्थ की क्षेम-कुशल की चिंता करने वाले साधु के पांचों महाव्रत भंग होते हैं। ऐसे अनाचार का सेवन करने वाला साधु कैसे माना जाय ? ६

१—सा० धा० ६।२१; २—सा० धा० ६।२२; ३—सा० धा० ४।२१; ४—सा० धा० ४।२२,२३; ५—सा० धा० ४।२४,२५; ६—सा० धा० ६।२३;

—आर्थिक सहायता—

माता पिता, सगे-स्नेहियों को गरीब देखकर उन्हें धन-धान्य आदि परिग्रह दिलवाना यह असाधु की चाल है। ऐसा साधु प्रत्यक्ष कुगुरु है।

जो न्यातीलों को धन दिलवाता है, उसके हृदय से उनका मोह नहीं हटा। जो साधु होकर गृहस्थों की सार-सम्भाल करता है, वह निश्चय ही साधु नहीं।

स्थानांग सूत्र के तृतीय स्थानक में परिग्रह को अनर्थ का मूल कहा है। जो साधु परिग्रह की दलाली करता है वह पूरा अज्ञानी और मूर्ख है। ऐसे आचारवाले को साधु मत समझो!३

जो साधु श्रावक की अनुकम्पा लाकर उसको द्रव्य दिलवाता है, उसका दूसरे करण' से पांचवां व्रत भंग होता है और 'तीसरे करण' से पांचों ही व्रत भंग होते हैं। ऐसे हीनाचार वाले को साधु कैसे समझा जाय ?४

—गृहस्थ भोजन—

जो साधु गृहस्थ को खिलाने का उपदेश करता है—जो उपदेश देकर जीमनवार करवाता है वह साधु दलाल की तरह है। ऐसे साधु के लिये निशीथ में चौमासी दण्ड की व्यवस्था है। जो व्रत भंगकर शील रहित हो जाता है उसे साधु कैसे माना जाय ?

—गृहस्थ के पाट बाजोट नहीं लौटाना—

जो साधु गृहस्थ के पाट बाजोट आदि ला उन्हें वापिस देनेकी नियत नहीं रखता और मर्यादा का भंग कर उनका सेवन करता है वह जैन-धर्म की रीति छोड़ चुका। ऐसे अनाचारी साधु के लिये निशीथ सूत्र में एक मास का दण्ड कहा है।

—कपाट खोलना और बन्द करना —

गृहस्थ के घर भिक्षाटन के लिये जाने पर यदि द्वार बन्द पाते हैं तो सच्चे

१—सा० धा० ४।२६; २—सा० धा० ४।२८;३—सा० आ० ४।२९; ४—सा० आ० ६।७; ५—सा० आ० ६।८

साधु भिक्षा किए बिना ही लौट जाते हैं पर कई साधु गृह स्वामी की अनुमति अथवा बिना अनुमति ही द्वार खोल घर में प्रवेश कर भिक्षा करते हैं। १

जो कपाट खोलता या बन्द करता है वह पर-पीड़ा को नहीं समझता। जो साधु द्वार खोलता-बन्द करता है वह अहिंसा महाव्रत को भंग करता है। वह सच्चा अणगार नहीं। २

द्वार खोलकर भिक्षा करने वाला साधु जीवों का हिंसक है। आवश्यक सूत्र का चौथा अध्ययन देखकर इसका निर्णय करो। ३

आर्याओं के लिये द्वार बन्द करने की बात आई है, वह शीलादि की रक्षा के हेतु से है। जो साध्वियां अन्य किसी प्रयोजन से द्वार बन्द करती खोलती हैं वे संयम और लज्जा को छोड़ चुकीं। ४

जो मल-मूत्र विसर्जन करने के लिये जाते समय या भिक्षाटन के लिए जाते समय द्वार बन्द कर जाती हैं उनका आचार विशुद्ध नहीं। साध्वियाँ आहार के समय भी द्वार बन्द करती हैं। इसी तरह दिनमें अनेक बार द्वार खोलती बन्द करती हैं। ऐसी आर्याएँ केवल साध्वी वेष धारण करने वाली हैं। उनके हृदय में जरा भी विवेक नहीं। ऐसी आचारवाली साध्वियों को साध्वियाँ मत समझो। ५

जो ऐसा शिथिल प्रचार करते हैं कि साधु द्वार बन्द किया हुआ पाये तो द्वार खोल कर भिक्षा कर सकता है वे जिन-मार्ग से विचलित हैं। जो द्वार खोल कर भिक्षा करने में जरा भी पाप नहीं समझते और ऐसी मान्यता को पुष्ट करते हैं उन्हें साधु नहीं समझना चाहिये। ६

—अंजन डालना—

बिना कारण आंखों में अंजन डालना जिन-आज्ञा के बाहर है--धर्म के बहि-

---

१—सा० आ० ४।११, १२; २—सा० आ० ३।१६; ४।३५; ३—सा० आ० ४।१५; ४—सा० आ० ४।३४; ५—सा० आ० ४।३२, ३३; ६—सा० आ० ४।१३,१४

भूत है। दसवैकालिक सूत्र में इसे खुले तौर पर अनाचार कहा है। जो बिना कारण आंखों में अंजन डालती हैं वे आचार को छोड़ चुकीं। उन्हें साध्वियां किस तरह समझा जाय? १

स्वामीजी ने इसी तरह अनेक चारित्रिक अनाचारों के विरुद्ध तीव्र आवाज़ उठाई। उनका कहना था "जिनके लक्षण ठीक साधु के नहीं, जो आचार में भ्रष्ट और श्रद्धा में मिथ्यात्वी हैं, जिनके बेश तो साधु का है परन्तु जो अन्तर में थोथे चने की तरह निस्तत्व हैं, जो खा पीकर मस्त सोते और शरीर में हृष्ट पुष्ट बने रहते हैं, जो कूड़-कपट से अपने मत को चलाते हैं और पेट भराई ही जिनके जीवन का धन्धा है, जो आचार में अत्यन्त ढील हैं, जो साधु कहला कर भी जगह-जगह स्थानक बनवाते और आधाकर्मी स्थानक में रहते हैं और जो ६: काय के त्राता होने की तो बात दूर, उन्हें मराने में भी संकोच नहीं करते वे निश्चय ही नर्क प्राप्त करेंगे।"

श्रावकों के प्रति भी

स्वामीजी ने केवल साधुओं के शिथिलाचार के प्रति ही तुमुल सिंह नाद नहीं किया पर अन्धश्रद्धालु विवेकहीन श्रावकों को भी उनकी आचार हीनता के लिये बड़े आड़े हाथ लिया। श्रावक साधुओं के हीनाचार की उपेक्षा करते और उन के दोषों को ढकने में लगे हुए रहते। अपने गुरुओं के भ्रष्टाचार को छिपाने के लिए वे कभी-कभी तो झूटे दोष भी मंढते। स्वामीजी ने श्रावकों की इस दोष पूर्ण दृष्टि को दूर करने के लिये महान् प्रयत्न किया। श्रावकों में स्पष्टोक्ति और सत्यकथन का आत्म-बल तो बचा ही न था। साधु ऐसे अन्धश्रद्धालु व भीरु श्रावकों के सहारे अपनी जीवन नौका को खेने की फिक्र में थे और उनकी प्रशन्सा कर-कर अपने अस्तित्व को येन केन प्रकारेण निभाये हुए थे। स्वामीजी ने श्रावकों में आत्म-बल जागृत किया। उन्हें सोते से जगा उन में नव जागृति उत्पन्न की। सच्चे मुमुक्षु भाव को जगा जैन धर्म के वास्तविक श्रावक

१—सा० आ० ४।१७, १६

और उपासक बनने की भावना को बल प्रदान किया। अन्धश्रद्धालु श्रावकों की तीव्र निष्पक्ष आलोचना उनकी कृतियों में जगह-जगह भरी पड़ी है। एक जगह वे कहते हैं "इधर साधु हैं जो साधु का विरद धराते हैं पर शुद्ध आचार का पालन नहीं करते और उधर श्रावक हैं जो दोष सेवन में सहारा देते हैं। दोनों के हृदय में इस प्रकार अन्धकार छाया हुआ है। यह तो अन्धे से अन्धे के मिलने की बात चरितार्थ हो गई। एक ओर कुगुरु हैं और दूसरी ओर विटल—पथभ्रष्ट श्रावक। दोनों ओर ज्ञान-चक्षुओं पर पट्टी बंधी हुई है। अब कौन मार्ग बतलावे ?"१ अपने जमाने के श्रावकों की टीका करते हुए स्वामीजी बड़े ही उद्बोधक शब्दों में कहते हैं—"देखो! वर्त्तमान काल के ये श्रावक झूठ-मूठ ही श्रावक कहलाते हैं। ये 'जीव' 'अजीव' नहीं जानते, न 'आश्रव' 'संवर' की इन्हें खबर है। देखो! ये धर्म समझ कर आश्रव का सेवन करते जा रहे हैं। देखो! ये प्रत्यक्ष भूले हैं।' २

वस्त्र, अन्न, जल, स्त्री आदि भोग परिभोग वस्तुओं का सेवन प्रत्यक्ष अव्रत आस्रव है। पर देखो! आज के ये श्रावक इनके सेवन करने, कराने और अनुमोदन करने में धर्म मान बैठे हैं। ३

देखो! इन्हें देव, गुरु, धर्म रूपी तीन रत्नों की पहचान नहीं। ये केवल थोथे बादल की तरह गाजा करते हैं। ये धर्म के धोरी हो बैठे हैं पर निरे मूर्ख हैं।४

ये श्रावक श्राविकाएँ मुक्तिमार्ग को बिलकुल ही भूले हुए हैं। अपने गुरुओं के लिए स्थानक आदि बनवा कर जीव हिंसा करते हैं और तुर्रा यह है कि उसमें धर्म समझते हैं। ये जो हिंसा में धर्म समझ रहे हैं वे नर्क की नींव डाल रहे हैं। ५

पृथ्वी, जल आदि अनन्त स्थावर काय का घमासान होने पर भी धर्म समझने से आज जगह-जगह स्थानक खड़े हो गए हैं। ६

पूछने पर वे लज्जावश कहते हैं कि हमने साधुओं के लिए नहीं पर अपने सद्

१-श्र० आ० १६।१२; २- श्रा० न० ३०; ३-श्रा० न० ३१; ४-श्रा० नं० ३२; ५-श्रा० नं० २; ६-श्र० आ० ६-८;

धर्मी भाईयों के लिए ये स्थानक बनाए हैं। इस तरह वे सारा दोष साधुओं पर से हटा लेते हैं पर वास्तव में ये स्थानक गुरुओंकी प्रेरणा से उनके लिए ही तैयार किए जाते हैं।१ श्रावक साधुओं के लिए हिंसा करते हैं और साधु वर्जन नही करते—इस तरह दोनों ही के घट में दया नहीं है।२

आज के ये श्रावक सच्चे गुरु के लक्षण और आचार को नहीं जानते। न इन्हें यह मालूम है कि सच्ची श्रद्धा क्या है ? देखो ! ये श्रावक व्रतविहीन साधुओं की कितने भक्ति भाव से वन्दना करते हैं। ३

देखो ! ये जान जान कर घी, चीनी, गुड़, मिश्री मोल ले-ले कर साधुओं को बहरा रहे—दान में दे रहे हैं और समझते हैं कि हमने बारहवें व्रत का लाभ लिया ! देखो ! ये कितने मूढ़ और अज्ञानी हैं !! ४

देखो ! इन्हें इतना भी मालूम नहीं कि साधु के लिए खरीद कर साधु को भिक्षा देने से बारहवां व्रत नष्ट होता है। इनके व्रतों में कितनी बड़ी पोल है। ५ इस तरह मोल ले कर दान देने में धर्म समझने वाले श्रावक निश्चय ही दुर्गति को प्राप्त होंगे। ६

~~कई~~ सदोष आहार देते हैं, कई अशुद्ध वस्त्र और कई अकल्प्य स्थान। इस तरह सब की बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। ७

ये श्रावक नहीं जानते कि अशुद्ध आहार, वस्त्र, पात्र और शय्यादि का दान देने वाला श्रावक पाप कर्म का बंध कर कर्मों के बोझ से किस तरह भव-सागर में डूबता है। अशुद्ध दान देने वाला श्रावक साधु को लूटने वाला है और जो साधु जानते हुए अशुद्ध ग्रहण करता है वह साधुत्व से भ्रष्ट होता है।८

जो आचार-भ्रष्ट हैं, जो जानते हुए अशुद्ध आहार, उपधि और उपकरण ग्रहण करते हैं, जो जीव हिंसा से नहीं डरते, जिन्हें असत्कृत्य से भय नहीं और जो हिंसा में धर्म बतलाते हुए लज्जा नहीं लाते, उनको पक्षपात करने वाले श्रावक भोले हैं।

१-श्रा०न० ९-१०; २-श्र० आ० १६।२ ; ३—श्रा० न० ३४ ४—श्रा० न० ३५;५—श्रा० न० ३६; ६—श्रा० न० ३९; ७— श्रा० न० ४४; ८—श्रा० न० ४३;

देखो! ये श्रावक घुग्घू सरीखे हो रहे हैं जिन्हें दिन दहाड़े होता हुआ अनाचार भी नहीं दिखाई देता। १

अहो! इन अन्धों को न्याय मार्ग की बात जरा भी नहीं दीखती। ये तो पाखण्ड में लीन हैं। इन के घट में घोर मिथ्यात्व है। २

अहो यह पांचवाँ आरा निश्चय ही दुषम काल है। आज के गृहस्थ केवल "श्रावक" और "श्राविका" नाम ही धारण करते हैं। ये गुण हीन फूटे ठीकरे की तरह हैं जिनके लिए नर्क ही ठीक स्थान है। ३ इन श्रावक श्राविकाओं का काम ही दिन-रात हीनाचारी गुरुओं की सेवा करना रह गया है। झूठी पक्षपात कर ये झूठों को सच्चा साबित करने को चेष्टा करते रहते हैं। ४

अपने गुरुओं के दोष तो ये इस प्रकार ढक देते हैं परन्तु शुद्ध साधु पर दोष मढते हुए ये पापी जरा भी संकोच नहीं करते। ये शुद्ध साधुओं की निन्दा करते रहते हैं—उन्हें देखते ही इनके हृदय में द्वेष जाग उठता है और उनके प्रति वैरी और शौतका-सा व्यवहार करते हुए विशेष छिद्रान्वेषण करते हैं। दूसरों के सिर झूठे आल देने में ये जरा भी आलसी नहीं। साधु से बैर ठानने के लिए ये सब एक हो जाते हैं और भोले लोगों को पीछे लगा देते हैं। ५

जिनके कुगुरु से अत्यन्त मोह है और साधुओं से अत्यन्त द्वेष उनके दोनों ओर दिवाला है। जो श्रावक, कुगुरुओं की पक्षपात करते और अपनी पकड़ी हुई बात को कभी नहीं छोड़ते उनके घट में मिथ्यात्व रूपी घोर अंधकार है।"६

भगवान ने श्रावकों को पिता तुल्य बतलाया है। जैसे पिता अपनी सन्तति की रक्षा करते हैं उसी तरह जो साधुओं के धर्म जीवन के पोषक और रक्षक हों वे ही श्रावक वास्तव में श्रावक हैं। जो साधुओं में घुसे हुए नाना दोषों और अना-

---

१—श्रा० आ० ढा० ९ दो० १—३, ८; २—श्रा० न० दो० ३
३—श्रा० न० दो० १; ४—श्रा० न० दो० २; ५—श्रा० न० १७,१८ २५;
६ —श्रा० न० ५५,५

चारों के प्रति आंखें मूंद उनके शिथिलाचार का पोषण करते हैं वे श्रावक, श्रावक नहीं, जैन धर्म के लुटेरे हैं। स्वामीजी के समय के श्रावक 'पितृ-तुल्य' बिरद को खो चुके थे। ऐसे हीनाचारी श्रावकों के प्रति स्वामीजी के हृदय में जो तीव्र तूफान था उसका अन्दाजा उपरोक्त उद्गारों से लगाया जा सकता है। श्रावक और साधु समाज के पतन से उनके हृदय में जो एक गहरी वेदना और आह छाई हुई थी, वह उनके प्रत्येक शब्द से फूट पड़ती है। एक बार स्वामीजी से किसी ने पूछा : "आपने अपनी रचनाओं में किस समय के भाव दिखलाये हैं ?" स्वामीजी बोले : "हम कोई ज्योतिषी नहीं कि आषाढ़ महीने में कार्तिक महीने का भाव कहें। हम तो वर्तमान भावों के ही वर्णन करने वाले हैं। हम आगे की नहीं बतलाते। वर्तमान में जैसा चारित्र है उसी की चर्चा करते हैं।" स्वामीजी ने अपने जमाने के शिथिलाचार के विरुद्ध घोर क्रांति मचाई थी। एक जगह विरुद्धाचार को दिखाते हुए स्वामीजी लिखते हैं :

"कई ऐसे श्रावक हैं जो काई को उखाड़ कर वर्षती वर्षा में मूई मिट्टी डालते हैं। इस तरह अनन्त जीवों का घमासान करने में पापी जीव जरा भी शंका नहीं करते। इस तरह श्रावक खुद डूबते और गुरुओं को भ्रष्ट कर आत्मा को कलंकित करते हैं। जो साधुओं के निमित्त विषम जगह को खोद सम करते हैं और इस तरह नीलण-फूलण--काई, हरे अंकुर, और चींटी-मकोड़ादिक को नष्ट करते हैं या मिट्टी के नीचे दबाते हैं उनकी बुद्धि बड़ी बिपरीत—धर्म प्रतिकूल है।[१] वहुत से श्रावक साधुओं के निमित्त जगह बुहरा जो अनेक खात कचरादि पड़ा होता है उसे इकट्ठा करा देते हैं और फिर टोकरियों में भरा बाहर डलवाते हैं। इसी तरह साधु के लिये श्रावक दड़ लिपवाते हैं, छपरा छवाते और चँदवा ताटा बंधवाते हैं। इस तरह जो विविध रूप से जीवों को घात करते हैं वे श्रावक

१— श्र० आ० ढा० १६ । ४, ५, ६, ७

जैन धर्म को नहीं पहचानते ।१ ऐसे ... अशुभ कर्मों का बंध करते हैं। स्थानांग सूत्र के तृतीय स्थानक और भगवती सूत्र में इसका स्पष्ट उल्लेख है ।" २

ऊपर में हमने जो अवतरण दिये हैं उनसे स्पष्ट है कि स्वामीजी साधु और श्रावक के परस्पर सम्बन्ध को पवित्र और नियमविहित देखना चाहते थे। एक दूसरे का जीवन उत्थान की ओर ले जाने वाला हो पतन की ओर नहीं, पूज्य गुणों से पूजास्पद बने, उपासक अपनी उपासना में पवित्र हो, गुणों की पूजा हो। केवल वेष की प्रतिष्ठा न रहने पावे— स्वामीजी की क्रांति का मूल लक्ष्य यही था।

स्वामीजी ने जैन संस्कृति और जीवनआदर्श को पुनर्जीवित करने के लिए जो महान् आंदोलन मचाया था उसकी संक्षिप्त रूप रेखा इस अध्ययन और इसके पूर्व के प्रकरणों में आ चुकी है। स्वामीजी एक महान् व्यवस्थापक थे। उन्होंने चतुर्विध जैन संघ को पुनर्संगठित कर उसे किस तरह एक सजीव संस्था के रूप में खड़ा किया था—इसकी चर्चा आगे यथास्थान आनेवाली है। स्वामीजी ने जनता को शुद्ध दृष्टि और सच्ची श्रद्धा दी। जैन धर्म के नाम पर जो अनेक मिथ्या मान्यताएँ चल पड़ी थीं और जिससे जैन-दर्शन एक महान् जटिल रूप धारण कर चुका था, स्वामीजी ने उन सारी मान्यताओं के प्रति भीषण क्रांति मचा शुद्ध जैन दर्शन का प्रकाश फैलाया। भगवान महावीर को ३६३ मतों के सम्मुख लड़ कर जैन धर्म का उद्धार करना पड़ता था। स्वामीजी के समयके वादों की कोई गिनती नहीं की गई। परन्तु उनकी संख्या अधिक ही होगी कम नहीं—ऐसा स्वामीजी के समय के साहित्य के पढ़ने से स्पष्ट है ये सभी वाद जैन धर्म के नाम से चलते थे। स्वामीजी ने विवेक दिया कि शुद्ध जैन दर्शन और धर्म क्या है। स्वामीजी की क्रांति के इस एक विशेष पहलू की चर्चा भी हम आगे एक स्वतन्त्र प्रकरण के लिए रख इस अध्ययन को यहीं समाप्त करते हैं।

१—श्र० आ० १६।९-१०; २—श्र० आ० ढा० १५।१

: ५ :

वैराग्यमूर्ति

एक संगम

स्वामीजी एक महान् वैरागी साधु थे। संसार से तीव्र उदासीन-भाव और परमार्थ में अत्यन्त लवलीनता—ये दोनों बातें समुद्र में लहरों की तरह उनकी अन्तर भावनाओं में क्रीड़ा करतीं। स्वामीजी एक विचक्षण तत्वज्ञानी और महान् अध्यात्मिक संत पुरुष थे। वैराग्य और धर्म उनकी धमनियों में उसी तरह बहा करता जिस तरह जीवन देनेवाला रक्त। उनके वैराग्य की कथाओं को सुनिये आपका हृदय संवेग रस से परिप्लावित हो जायगा, उन के गंभीर तत्वज्ञान पर दृष्टि डालिये आपका दृष्टि-उन्मेष हो जायगा और उनकी सरस आध्यात्मिकता पर विचार कीजिये आप आत्मसमाधि में लवलीन हो जायेंगे। एक अनूठे वैरागी, एक अनूठे ज्ञानी, एक अनूठे योगी—स्वामीजी एक अद्भुत पुरुष थे। वे ज्ञान, वैराग्य और अध्यात्म के एक पवित्र संगम थे।

वैराग्यभाव की कथाएँ

स्वामीजी ने २५ वर्ष की पूर्ण यौवनावस्था में दीक्षा ली। गृहवास में ही सह-पत्नीक ब्रह्मचर्य पालन करना शुरू किया। दीक्षा के पूर्व दीर्घ काल तक एकान्तर उपवास की तपस्या करते रहे। इन सबसे उनके मन की तीव्र वैराग्य भावना का सुन्दर दिग्दर्शन होता है। सांसारिक सुखों के प्रति उनके हृदय में सहज खिन्नभाव था। विषयभोग के प्रति उनको अनासक्ति और निस्पृहता में एक गहरी सजीवता थी, जो अन्तिम क्षणों तक एक रस बनी रही। **"भोगी भमई संसारे अभोगी विप्पमुच्चई"**—भगवान के ये वचन उनके जीवन के दिशासूचक यंत्र बन गये थे। जीवन की अनित्यता उनके हृदय में एक अबुझ चिराग की तरह जलती

और इसी कारण अपने जीवन के प्रति क्षण वे सजग रहते। **"समयं गोमय मा पमायए"**—"समय मात्र के लिये भी प्रमाद मत कर"—भगवान की यह शिक्षा उनके जीवन का असिव्रत हो गया था।

जीवन की अनित्यता को स्वामीजी ने अनेक स्थलों पर बड़े सुन्दर ढंग से समझाया है। एक जगह वे कहते हैं—'जीवन फूस के ताप की तरह क्षणिक है'। अन्य जगह वे कहते हैं 'जीवन हाथी के कान की तरह चंचल—अस्थिर होता है। जीवन की इस क्षण भंगुरता को समझ लेने के कारण ही वे अपने जीवन के पल-पल का लेखा लगा सके।

भगवान ने विषयों को तालपुट विष की उपमा दी है। उन्हे किंपाक फल कहा है, जो खाने में मीठे और फल में घातक विष की तरह होते हैं। स्वामीजी ने पौद्गलिक सुखों पर विवेचन करते हुए लिखा है: "जैसे पांव रोगी को खाज उसके रोग के कारण ही सुखकारी लगती है उसी तरह वैषयिक सुख आत्म-विकार के कारण मीठे लगते हैं। जहर चढ़ने पर नीम मीठा लगने लगता है उसी तरह कर्म रोग से पीड़ित होने के कारण ही जीव को पौद्गलिक सुख मधुर लगते हैं। जैसे खुजलाने से पांव रोग नहीं मिटता उसी तरह काम भोगों के सेवन से आत्मा का कार्य सिद्ध नहीं होता। इन सुखों को पाकर जो खुश होता है, उसके पाप कर्म का संचय होता है जिससे आखिर में उसे नर्क निगोदादि के दुःख भोगने पड़ते हैं। आत्मिक सुख शाश्वत होते हैं। वे वाह्य वस्तु की अपेक्षा नहीं रखते। वे ही वास्तव में काम्य हैं। पौद्गलिक सुख तो रोगीले सुख हैं।" स्वामीजी सदा आत्मिक सुख की खोज में लवलीन रहते।

स्वामीजी ने एक जगह कहा है: "शरीर जीर्ण-शीर्ण हो जाता है तो भी आशा की पूर्त्ति नहीं होती। यह कितना आश्चर्य है! मैं उसकी बलिहारी जाता हूं जो तरुणावस्थामें सब भोगों को पीठ दिखा कर महाव्रतों को ग्रहण करता है। हे जीव! हृदय में विचार कर देख। हे गंवार! विषय सुख में रतपत हो थोड़े सुख के लिये

इस मनुष्य जीवन को क्यों खोता है ?" स्वामीजी ने कितने सुन्दर ढंग से विषयों से विरत हो परमार्थमें लवलीन होने के लिये सांसारिक आत्माको उद्बोधित किया है

स्वामीजी की वैराग्यमय चित्तवृत्ति की झांकी निम्नलिखित घटना से भी स्पष्ट रूप से होती है। हेमराजजी महाराज गृहस्थ थे उस समय की बात है। एकबार उनकी एकमात्र बहिन को उनके मामा अपने घर ले गये। हेमराजजी महाराज का अपनी बहिन से बड़ा स्नेह था। बहिन के पास न रहनेसे उनका मन अत्यन्त उदास हो गया। स्वामीजी के पास आकर बोलेः "स्वामीनाथ! आज मेरा मन बहुत उदास हो रहा है। मन में आता है कि किसी ऊंट-सवार को भेजकर बहिन को आज ही वापिस बुला लूं।" स्वामीजी बोले "सांसारिक सुखों में यही अनित्यता है। संसार में संयोग वियोग है। आत्मिक सुख ही शाश्वत हैं।"

सं० १८५५ का चतुर्मास स्वामीजी ने पाली में किया। एक दिन मुनि खेतसीजी को रात के समय बहुत उल्टियाँ हुईं और दस्तें लगीं। स्वामीजी ने हेमराजजी को जगाते हुए कहा, "उठो! खेतसी रास्ते में पड़े हैं। उठाकर एक ओर सुलावें।" दोनों ने उठाकर खेतसीजी को एक तरफ सुलाया और उनके सिराहने से एक नई पछेवड़ी निकाल कर उन्हें ओढ़ा दी। फिर स्वामीजी हेमराजजी से बोलेः "संसार की माया कच्ची है। देखो! देखते-देखते खेतसीजी को क्या हो गया ?" थोड़ी देर बाद कुछ ठीक होने पर खेतसीजी बोले: "रूपांजी को अच्छी तरह पढ़ाइएगा।" स्वामीजी बोले : "रूपांजी की चिन्ता न करो। भगवान का भजन करो।"

यह छोटी-सी घटना स्वामीजी की अन्तर वृत्तियों का बड़ा सुन्दर परिचय देती हैं। बीमारी के समय सारी चिंताएँ छोड़कर प्राणी को किस तरह आत्म-समाधि में तल्लीन हो जाना चाहिए—इसका सुन्दर बोध इस घटना में है। स्वामीजी ने बतलाया है कि अन्तिम क्षण में अपनी आत्मा को चिंता करना ही सबसे बड़ा परमार्थ है।

स्वामीजी के हृदय में वैराग्य की उत्ताल तरंगे इसी तरह लहराया करतीं। उनके जीवन की वैराग्य कथाएँ बड़ी अद्भुत हैं। उन्होंने एक बार कहा था: "कसुंबे को जल में डाल देने पर भी उस समय तक वह रङ्ग नहीं चढ़ा सकता जब तक वह स्वयं गलता नहीं, उसी तरह साधु जब तक वैराग्य में पूरा रंगता नहीं तब तक दूसरों को वैराग्य में नहीं रङ्ग सकता।" वैराग्य की साधना ही स्वामीजी की दृष्टि में सबसे बड़ी साधना थी।

अन्त समय में, जब कि स्वामीजी अनशन का निश्चय कर चुके थे, मुनि खतसी स्वामीजी से बोलेः "आपने धर्म का बड़ा उद्योत—प्रकाश किया। आप झण्ड देवलोक में जाते दिखाई देते हैं।" स्वामीजी बोले: "सतयुगी! मुझे देवलोक की जरा भी चाह नहीं। स्वर्गादि के सुख पौद्गलिक हैं। अनन्त बार जीव इन पौद्गलिक सुखों को भोग चुका पर उससे कभी उस की तृप्ति नहीं हुई। मेरा मन तो मुक्ति में लीन है, जहाँ कि शाश्वत आत्मिक सुख हैं। मैं तो देवलोक की आकाँक्षा नहीं करता। मुझे तो मुक्ति की ही चाह है।"

पाठक देखें कि "इहलोगासंसप्पओगे, परलोगासंसप्पओगे, * * * कामभोगासंसप्पओगे मा मुज्झ हुज्ज मरणन्तइ" किस तरह स्वामीजी की जीवन-सरिता का चिर किल्लोल बन गया था। अन्तिम समय में उन्होंने बालक मुनि रायचन्दजी को उपदेश दिया था: "तुम बालक हो। मोह मत लाना।"

मोह को—राग को जैन सिद्धान्त में पिशाच कहा है। स्वामीजी ने अत्यन्त प्रबल पुरुषार्थ से इस पिशाच को जीतकर उत्कट वीतरागभाव की प्राप्ति की। स्वामीजी एक विरले वैरागी योगी थे।

———

: ६ :

संस्कारी तत्वज्ञानी

स्वामीजी जैसे वैरागी थे, वैसे ही महान तत्वज्ञानी भी। वे जन्म-जात महान् दार्शनिक उपदेशक थे। तत्वों का सूक्ष्म ज्ञान और सरल विवेचन स्वामीजी की एक अनन्य विशेषता थी। उनका जैन शास्त्रों का तलस्पर्शी अध्ययन और चकाचौंध कर देने वाली बहुश्रुतता तो आज भी अपनी सानी नहीं रखती। उनकी रचनाओं में गहरा आगम-दोहन है, साथ ही एक उद्‌भट तत्वज्ञानी का गम्भीर विचार और चिन्तन। उनकी अलौकिक दार्शनिकता स्वाध्याय की उर्वरा भूमि में जन्मी और दूरदर्शिनी बुद्धि और विवेकपूर्ण तर्क से खाद्य और रस पा विस्तृत रूप से फूलीफली थी। जैन तत्त्वज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में स्वामीजी की देन इतनी महान् है कि उसका कोई भी मूल्यांकन अधिक नहीं हो सकता। जैन जगत् के इतिहास में स्वामीजी का नाम अमिट अक्षरों में लिखा रहेगा।

स्वामीजी का तत्वज्ञान उनकी कृतियों में जगह-जगह छिपा पड़ा है। उनके गंभीर तत्वज्ञान को दिव्य झाँकी उनके 'तेरह द्वार' के थोकेड़े और 'नव तत्व' की ढालों परसे मिलती है। जैन तत्व का जैसा सूक्ष्म और स्पष्ट विवेचन स्वामीजी की कृतियों में है वैसा देखने में नहीं आता है। यहां हम स्वामीजो की कृतियों से कुछ विवेचन उपस्थित करेंगे, जिससे पाठकों को उनके महान् तत्त्वज्ञान का कुछ अन्दाजा हो सके।

नव पदार्थ का वैज्ञानिक विश्लेषण

जैन दर्शन में ९ पदार्थ बतलाये गये हैं :—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष। स्वामीजी ने इन नौ तत्वों का खूब विशद विवेचन किया है। संक्षेप में वह इस प्रकार दिया जा सकता है:

१—जीव चेतन पदार्थ को कहते हैं। जिस-जिस द्रव्य में योग, उपयोग, लेश्या गुणस्थान, पर्याप्ति और प्राण हैं वह द्रव्य निश्चय ही जीव है। जीव को भगवती सूत्र के सातवें श्रुतस्कंध में शाश्वत और अशाश्वत दोनों कहा है। द्रव्यतः वह शाश्वत है और भावतः अशाश्वत। भावतः जीव को अशाश्वत इसलिये कहा है कि उसकी पर्यायें पलटती रहती हैं और द्रव्यतः उसे शाश्वत इसलिये कि जीव कभी अजीव नहीं होता। उदाहरणार्थ सोने के गहनों को तुड़ा-तुड़ा कर और-और आकार में घड़ाने से आकार का विनाश होता है पर सोने का विनाश नहीं होता, वैसे ही कर्मों के उदय से जीव की पर्याय—अवस्था पलटती—परिवर्तित होती है पर मूल चेतनगुण का विनाश नहीं होता।

२—अजीव अचेतन पदार्थ को कहते हैं। इसके पांच भेद हैं :

(१) धर्मास्तिकाय—यह द्रव्य एक द्रव्य है। क्षेत्र से लोक प्रमाण है। काल से आदि अन्तरहित है। भाव से अरूपी है। गुण से जीव और पुद्गल को चलने में सहारा देनेवाला है।

(२) अधर्मास्तिकाय—यह द्रव्य से एक द्रव्य है। क्षेत्र से लोक प्रमाण है। काल से आदि अन्त रहित है। भाव से अरूपी है। गुण से जीव पुद्गल को स्थिर होने में सहारा देनेवाला है।

(३) आकाशास्तिकाय-यह द्रव्य से एक द्रव्य है। क्षेत्र से लोक अलोक प्रमाण है। काल से आदि अन्त रहित है। भाव से अरूपी है। गुण से—वस्तुओं को स्थान देनेवाला—भाजन गुणवाला है।

(४)काल—यह द्रव्य से अनन्त द्रव्य है। क्षेत्र से अढ़ाई द्वीप प्रमाण है। काल से आदि अन्त रहित और भाव से अरूपी है। गुण से वर्तनगुणवाला—बिताने वाला है।

(५) पुद्गलास्तिकाय—द्रव्य से अनन्त द्रव्य है। क्षेत्र से लोक प्रमाण है। काल से आदि अन्त रहित है। भाव से रूपी और गुण से गलन-मिलन गुणवाला है।

३—पुण्य—अर्थात् शुभ कर्म। पुण्य पुद्गल की एक पर्याय—उसका

रूपान्तर है। जो पुद्गल—कर्म—जीव के आ-आ कर लगते हैं और उदयावस्था में—फलावस्था में शुभ—सुखरूप होते हैं उन्हें पुण्य कहते हैं। पुण्य कर्म से जीव को सुख होता है।

४—पाप—अर्थात् अशुभ कर्म । पाप भी पुद्गल द्रव्य है। जो पुद्गल कर्म जीवके आ-आ कर लगते हैं और उदयावस्था में—फलावस्था में दुःख उत्पन्न करते हैं उन्हें पाप कहते हैं। पाप जीव को दुःख का कारण होता है।

पाप पुण्य को समझने के लिए पथ्य-अपथ्य आहार का दृष्टान्त है। कभी जीव के पथ्य आहार घटता और अपथ्य बढ़ता है तो जीव की आरोग्यता घटती और सरोगता बढ़ती है। कभी जीव के अपथ्य आहार घटता है और पथ्य बढ़ता है तब जीव के अस्वस्थता घटती और आरोग्यता बढ़ती है। पथ्य अपथ्य दोनों आहार घट जाने पर प्राणी मृत्यु प्राप्त करता है। इसी तरह जीवके पुण्य घटते और पाप बढ़ते हैं तो सुख घटता और दुःख बढ़ता है। कभी जीव के पाप घटता और पुण्य बढ़ता है तो सुख बढ़ता और दुःख घटता है। पुण्य पाप दोनों के क्षय होने से जीव मोक्ष पाता है।

५—आस्रवः कर्म ग्रहण करे सो आश्रव तत्व है। उसे पहचानने के लिए तीन दृष्टान्त मय पांच कथन कहे जाते हैं।

(१) प्रथम कथन

(क) तालाब के नाला होता है, उसी तरह जीव के आस्रव होता है।
(ख) मकान के दरवाजा होता है, उसी तरह जीव के आस्रव होता है।
(ग) नाव के छिद्र होता है, उसी तरह जीव के आस्रव होता है।

(२) द्वितीय कथन

(क) तालाब और नाला एक होता है उसी तरह जीव और आस्रव एक है
(ख) मकान और दरवाजा एक होता है उसी तरह जीव और आश्रव एक है।
(ग) नाव और छिद्र एक होता है उसी तरह जीव और आश्रव एक है।

(३) तृतीय कथन

(क) जिससे जल आता है वह नला होता है, उसी तरह जिससे कर्म आते हैं वह आस्रव।

(ख) जिससे मनुष्य आता है वह दरवाजा, उसी तरह जिससे कर्म आते हैं वह आस्रव।

(ग) जिससे जल भरता है वह छिद्र, उसी तरह जिससे कर्म आते हैं वह आस्रव।

(४) चतुर्थ कथन

(क) जल और नाला भिन्न है, उसी तरह कर्म और आस्रव भिन्न है।

(ख) मनुष्य और दरवाजा भिन्न है, उसी तरह कर्म और आस्रव भिन्न है।

(ग) जल और छिद्र भिन्न है, उसी तरह कर्म और आस्रव भिन्न है

(५) पंचम कथन

(क) जल जिससे आवे वह नाला पर नाला जल नहीं, उसी तरह जिससे कर्म आवें वह आस्रव पर कर्म आस्रव नहीं।

(ख) मनुष्य जिससे आवे वह दरवाजा पर मनुष्य दरवाजा नहीं, उसी तरह जिससे कर्म आवें वह आस्रव पर कर्म आस्रव नहीं।

(ग) जल जिससे आवे वह छिद्र पर जल छिद्र नहीं, उसी तरह जिससे कर्म आवें वह आस्रव पर कर्म आस्रव नहीं।

६—**संवर :** कर्मों को रोकता है वह संवर तत्व है। इसे समझने के लिए तीन दृष्टान्त हैं :

(१) तालाब के नाले को बंद करने की तरह, जो जीव के आस्रव रूपी नाले को बन्द करे वह संवर।

(२) मकान के दरवाजे को बंद करने की तरह जो जीव के आस्रव रूपी नाले को बंद करे वह संवर।

(३) नाव के छिद्र को रूंधने की तरह जो जीव के आस्रव रूपी छिद्र को रूंधे वह संवर।

७—निर्जरा : देश से (अंश रूप में) कर्मों को तोड़ कर जीव का देशतः (अंशतः) उज्वल होना निर्जरा है। इसे समझने के लिए तीन दृष्टान्त हैं :

(१) तालाब के पानी को मोरी आदि द्वारा निकाला जाता है उसी तरह भले भाव की प्रवृति द्वारा कर्मरूपी जल निकाले वह निर्जरा।

(२) मकान का कचरा बुहार-बुहार कर बाहर निकाला जाता है, उसी तरह भले भावों की प्रवृति द्वारा जीव कर्म रूपी कचरा बाहर निकाले वह निर्जरा।

(३) नाव का जल उलीच-उलीच कर बाहर निकाला जाता है, उसी तरह भले भाव की प्रवृति द्वारा जीव कर्म रूपी जल बाहर निकाले वह निर्जरा।

८—बंधः जीव प्रदेश के साथ कर्मोंका जो बन्धन होता है, (उसे बन्ध कहते हैं। इसे समझने के लिए तीन दृष्टान्त हैं :—

(१) तेल और तिल लोलीभूत—एकमेक होते हैं, उसी तरह बन्ध से जीव कर्म लोलीभूत—एकमेक होते हैं

(२) घृत दूध लोलीभूत—एकमेक होते हैं, उसी तरह बन्ध से जीव कर्म लोलीभूत—एकमेक होते हैं।

(३) धातु मिट्टी लोलीभूत—एकमेक होते हैं, उसी तरह बन्ध से जीव कर्म लोलीभूत—एकमेक होते हैं।

बन्ध के चार भेद होते हैं :

(१) प्रकृति बन्ध—बन्धे हुए कर्मों की प्रकृति—स्वभाव की दृष्टि से।

(२) स्थिति बन्ध—बन्धे हुए कर्मों की काल-स्थिति की दृष्टि से।

(३) अनुभाग बन्ध—बंधे हुए कर्मों के रसविपाक फल देने की तीव्रता मन्दता आदि की दृष्टि से। और

(४) प्रदेश बन्ध—बन्धे हुए कर्मों की लोलीभूतता--गाढ़ता की दृष्टिसे।

यह बन्ध या तो अशुभ कर्मों का होता है या शुभ कर्मों का। बन्ध जब तक फलावस्था में नहीं आता, तब तक जीव के सुख दुःख जरा भी नहीं होते। उदय में आने तक बन्ध केवल सत्ता रूप होता है। बन्ध के उदयावस्था में आने पर जब सांसारिक सुख प्राप्त होते हैं तो पुण्य का बन्ध माना जाता है और जब विविध प्रकार दुःख होते हैं तो पाप का बंध माना जाता है। जीव को एक तालाब माने हैं तो बंध उसमें आबद्ध जल रूप होगा। उस तालाब से निकलते हुए जल रूप पुण्य पाप होंगे।

६—मोक्ष सर्व कर्मों से छुटकारा करावे सो मोक्ष। इसे पहचानने के लिए तीन दृष्टान्त कहे जाते हैं :-

(१) कोल्हू आदि के उपाय से तेल खल रहित होता है, उसी तरह संयम तपादि द्वारा जीव कर्म रहित होता है। यही मोक्ष है।

(२) मथानी के उपाय द्वारा घृत छाछ रहित होता है उसी तरहे तप संयमादि द्वारा जीव कर्म रहित होता है। यही मोक्ष है।

(३) अग्नि आदि के उपाय द्वारा धातु मिट्टी अलग होते हैं, उसी तरह तप संयम के द्वारा जीव कर्म रहित होता है। यही मोक्ष है।

जीव के असंख्यात प्रदेश होते हैं। सर्व प्रदेश आस्रव—कर्म-ग्रहण के द्वार हैं। सभी प्रदेशों से कर्म प्रवेश होता रहता है। इस तरह बन्ध आस्रव के कारण होता है। बंधे हुए कर्म अवश्य उदय में आते हैं। भोगे बिना उनसे छुटकारा नहीं होता। शुभ परिणामों से जो कर्म बांधे जाते हैं वे शुभ रूप से, जो अशुभ परिणामों से बांधे जाते हैं वे अशुभ प से उदय में आते हैं। पहला बंध पुण्य बंध कहलाता है और दूसरा बंध पाप बंध। जीव के असंख्यात प्रदेश होते हैं। एक-एक प्रदेश

एक-एक तालाब की तरह है, जो कर्म रूपी जल से सम्पूर्ण भरा हुआ है। जैसे तालाब को खाली करने के लिए पहले जल आने के नाले बंध कर दिये जाते हैं, उसी तरह कर्मों का अन्त लाने के लिए पहले आस्रवों को रोकना होता है। यही संवर है। नाले को बंद करने के बाद तालाब की मोरियों को खोल कर जल बाहर निकाल दिया जाता तब तालाब कुछ-कुछ खाली होता जाता है उसी तरह आस्रव को संवर द्वारा रोक, नए बंध को मिटा, रहे हुए कर्मों का अंत करनेके लिए तपस्यादि करना पड़ता है। इस तरह जीव कुछ-कुछ उज्वल होता जाता है। यही निर्जरा है। निर्जरा तालाब के अंश रूप में खाली होने की तरह है। जब निकालते २ सारा जल निकाल दिया जाता है तो तालाब सम्पूर्णतः खाली हो जाता है, उसी तरह तपादि क्रिया करते-करते जब जीव अपने प्रदेशों में रहे सम्पूर्ण कर्मों को क्षय कर सम्पूर्ण उज्वल हो जाता है तो मुक्त कहलाता है। खाली तालाब की तरह जीव के सर्व प्रदेशों का सर्व कर्म रहित होना—यही मोक्ष है।"

नवतत्व का उपरोक्त विवेचन स्वामीजी की विस्तृत रहस्यपूर्ण कृतियों के आधार से खूब संक्षेप में किया गया है। जिन्हें जैन नव तत्व का कुछ भी परिचय है और जो इस सम्बन्ध में थोड़ा भी अध्ययन रखते हैं, उन्हें इस संक्षिप्त विवेचन में भी चमत्कार और काफी मौलिकता दृष्टिगोचर होगी। जो स्वामीजी की 'नव पदार्थ' जैसी कृतियों का सम्पूर्ण अध्ययन करेंगे उन्हें नव तत्वों पर काफी नया प्रकाश मिल सकेगा। द्रव्य जीव और भाव जीव, जीव के पाँच भाव, काल द्रव्य कैसे है, प्रदेश और परमाणु का अंतर, काल के स्कंध क्यों, पुण्य और पाप की परिभाषा, "पुण्य का बंध कैसे होता है, आस्रव और कर्म में भेद, आस्रव जीव है या अजीव, सवर क्या है, अयोग संवर कैसे होता है, अकाम निर्जरा और सकाम निर्जरा, बंधके चार प्रकार', सांसारिक सुखों की तुलना, मोक्ष के सार्वभौम उपाय, सिद्धों की विभूतियाँ आदि अनेक विषयों का तलस्पर्शी विवेचन हृदय में ज्ञान की रश्मियां फैला देता है। आठों कर्मों का भिन्न भिन्न दृष्टियों से विवेचन तो इस कृति में आदि से अन्त तक ओत-प्रोत है।

षट्द्रव्य

जन दर्शन संसार को वास्तविक मानता है। संसार कोई काल्पनिक वस्तु नहीं, पर वास्तव में अपना अस्तित्व रखती है। जैन दर्शन के अनुसार यह लोक षट् द्रव्यात्मक है। इन द्रव्यों के नाम (१) जीवास्तिकाय, (२) धर्मास्तिकाय, (३) अधर्मास्तिकाय, (४) आकाशास्तिकाय, (५) काल और (६) पुद्‌गलास्तिकाय हैं। स्वामीजी ने इन ६ द्रव्यों का बड़ा ही अद्‌भुत और हृदयग्राही विवेचन किया है। पाठकों की जानकारी के लिए हम उसका सार यहाँ देते हैं:—

"जीव चेतन पदार्थ है। उसके असंख्यात प्रदेश हैं। इन प्रदेशों में कभी घट-बढ़ नहीं होती। इसी से जीव को द्रव्य कहा है। द्रव्य तीनों काल में शाश्वत होता है। द्रव्य कभी विलय नहीं होता। वह सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। वह छेदने पर नहीं छिदता, भेदने पर नहीं भिदता, जलाने पर नहीं जलता, काटने पर नहीं कटता, गलाने पर नहीं गलता, बांटने पर नहीं बंटता, और घिसने पर नहीं घसता। जीव असंख्यात प्रदेशों का अखण्ड पिण्ड है और सदा काल ऐसा ही रहता है। जीव कभी अजीव नहीं होता।

"धर्म, अधर्म आकाश काल और पुद्‌गल ये पाँचों ही अजीव हैं। पहले चारों ही द्रव्य अरूपी हैं। उन में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श नहीं हैं। केवल पुद्‌गल रूपी है और उस में वर्णादि सर्व पाए जाते हैं। ये पांचों ही द्रव्य साथ रहते हैं, परन्तु अपना अस्तित्व नहीं खोते। वे अपने-अपने गुण को लिए हुए रहते हैं—उन्हें कोई एक दूसरे में मिला नहीं सकता। धर्म द्रव्य अस्तिकाय है। अस्ति अर्थात् जो वस्तु सत् हो—अस्तित्व वाली हो। जिन भगवान ने उसे काय इसलिए कहा है कि वह असंख्यात् प्रदेशी पिण्ड है। धर्म और आकाश भी क्रमशः असंख्यात् अनन्त प्रदेशी अखण्ड सत् वस्तु होने से अस्तिकाय हैं। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय लोक प्रमाण पहुले हैं। आकाशास्तिकाय लोकालोक प्रमाण लम्बी और पहुली है। भगवान ने धर्म, अधर्म और आकाश—तीनों ही अस्तिकाय को

तीन काल में शाश्वत बतलाया है। ये तीनों ही अलग-अलग द्रव्य हैं और उनके गुण पर्याय भी अलग-अलग हैं। तीनों ही काल में इन के गुण पलटते नहीं पर शाश्वत रहते हैं। ये तीनों ही द्रव्य केवल फैले हुए हैं; जरा भी हलन-चलन नहीं करते। केवल जीव और पुद्गल हलन-चलन करते हैं और लोक में फिरते रहते हैं। जीव और पुद्गल चलते हैं उन्हें सहाय धर्मास्तिकाय होती है। अनन्त जीव पुद्गलों को सहायक होने से उस की अनन्त पर्याय कही गई है। जीव और पुद्गल स्थिर होते हैं, उन्हें अधर्मास्तिकाय सहायक होती है। उसकी भी अनन्त पर्याय उपरोक्त हेतु से होती है। जीव अजीव आदि सर्व द्रव्यों का भाजन आकाशास्तिकाय है। अनन्त जीव अजीव द्रव्यों का भाजन होने से इस की अनन्ती पर्याय होती है। धर्मास्तिकाय का गुण चलने में सहारा देना, अधर्मास्तिकाय का गुण स्थिर रहने में सहारा देना, आकाशास्तिकाय का गुण सर्व द्रव्यों को स्थान देना है। धर्मास्तिकाय के तीन भेद हैं। स्कंध, देश और प्रदेश। समूची धर्मास्तिकाय स्कंध है। स्कंध समूचे से लवलेश भी न्यून नहीं होता। दो प्रदेश से आरम्भ कर एक प्रदेश कम तक स्कंध नहीं होता। वहाँ तक देश और प्रदेश होता है। धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश स्कंध और देश नहीं होता। जघन्य (कम-से-कम) दो प्रदेश बिना देश कभी नहीं होता। धर्मास्तिकाय तावड़े और छाया की तरह एक धार पड़ी रहती है। उसके कोई जोड़ सांध नहीं होती। पुद्गलास्तिकाय से जो प्रदेश अलग हो जाता है, उसे जिन भगवान ने परमाणु कहा है। उसी सूक्ष्म परमाणु से धर्मास्तिकाय मापी जाती है। एक परमाणु जितनी धर्मास्तिकाय को स्पर्श करता है, उसे प्रदेश कहा है। इस माप से धर्मास्तिकाय के असंख्यात प्रदेश होते हैं। अधर्मास्तिकाय के असंख्यात और आकाशास्तिकाय के अनन्त प्रदेश भी इसी माप से होते हैं।

"काल जीव के अनन्त द्रव्य होते हैं। वे निरन्तर उत्पन्न होते रहे, हो रहे हैं और होंगे। अतीत काल में काल के अनन्त समय हो चुके। वर्तमान में एक समय है। आगामी काल में अनन्त समय होंगे। काला द्रव्य की यही पहचान है।

काल द्रव्य निरन्तर उत्पन्न होता रहता है, इसी से जिन भगवान ने इसे शाश्वत कहा है। समय उत्पन्न हो कर विनाश होता है इस कारण से काल द्रव्य को अशाश्वत कहा है। काल अढाई द्वीप में ही वर्तता है। अढाईद्वीप के बाहर काल नहीं है। वहाँ के ज्योतिषी एक ही जगह रहते हैं। दो समय कभी इकट्ठे नहीं होते इसलिए काल के स्कंध नहीं बतलाया गया। स्कंध अनेक के समुदाय से होता है। समुदाय विनास्कंध नहीं होता। गए काल में अनन्त समय हुए। वे एकत्रित नहीं हुए। वे तो जैसे उत्पन्न हुए, उसी तरह विनाश को प्राप्त हो गए। फिर उनका स्कंध कैसे होता ? यही बात भविष्य के लिए भी लागू है। वर्तमान काल तो एक ही समय है। एक समय का स्कंध नहीं होती। वह भी उत्पन्न हो कर विलीन हो जायगा। काल का कोई स्थिर द्रव्य नहीं। स्कंध बिना देश नहीं हो सकता और स्कंध देश बिना प्रदेश भी नहीं हो सकता। स्कंध से प्रदेश अलग नहीं होता अतः काल के परमाणु भी नहीं होता। एक समय अनन्त द्रव्यों पर वर्तता है अतः इसकी अनन्त पर्याय कही गई है। वर्तमान समय सदा एक होता है उसे अनन्त कहा है सो पर्याय की दृष्टि से। एक-एक द्रव्य पर समय को डालने से अनन्त द्रव्यों के हिसाब से एक ही समय अनन्त कहलायेगा।

"पुद्गल द्रव्य अनन्त हैं। ये द्रव्यतः शाश्वत और भावतः अशाश्वत होते हैं। ये अनन्त हैं। वे जरा भी घटते-बढ़ते नहीं। घट-बढ़ केवल भाव पुद्गलों की होती है, जिनके अनेक भेद हैं। पुद्गल के जिन भगवान ने चार भेद कहे हैं— स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणु। परमाणु की यह विशेषता है कि वह स्कंध से बिछुड़ा हुआ सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग होता है। स्कंध के साथ लगा रहता है तबतक प्रदेश और छूटकर अकेले होते ही वह परमाणु कहलाने लगता है। इस तरह प्रदेश और परमाणु में फर्क नहीं होता। परमाणु और प्रदेश तुल्य होते हैं। दोनों ही अंगुल के असंख्यातवें भाग के बराबर होते हैं। पुद्गल का उत्कृष्ट स्कंध लोक प्रमाण

होता है और जघन्य स्कंध अंगुल के असंख्यातवें भाग जितना। अनन्त प्रदेशी स्कंध एक प्रदेश क्षेत्र में समा जाता है और फैलकर जब बड़ा स्कंध होता है तो समूचे लोक को व्याप्त कर लेता है। तीन लोक में सर्वत्र पुद्गल हैं। कोई जगह पुद्गल से खाली नहीं है। पुद्गल एक स्थान में नहीं रहते परन्तु लोक में इधर-उधर फिरते रहते हैं। पुद्गलों का स्वभाव है कि अनन्त अलग होते और अनन्त मिल जाते हैं। पुद्गल की अनन्त पर्याय होती हैं। जो जो वस्तु पुद्गल से उत्पन्न होती हैं वे सब विलय भी हो जाती हैं। वे भाव पुद्गल कहलाती हैं। द्रव्य पुद्गल ज्यों-के-त्यों रहते हैं। आठ कर्म और शरीर अशाश्वत हैं क्योंकि उत्पन्न हैं। ये भाव पुद्गल हैं। द्रव्य उत्पन्न नहीं किया जा सकता। छाया, धूप, प्रभा ये सब भाव पुद्गल हैं। इसी तरह अंधकार और उद्योत। हल्कास, भारीपन, रूखास, चिकनास, तथा घटपट आदि सब भाव पुद्गल हैं। सैकड़ों मल पुद्गल जल चुके पर द्रव्य तो अंश मात्र भी नहीं जले। भाव पुद्गल जो उत्पन्न हुए हैं, वे ही विलय को प्राप्त होते हैं। सैकड़ों मन पुद्गल उत्पन्न हुए परंतु द्रव्य तो जरा भी उत्पन्न नहीं हुए। जो उत्पन्न हुए हैं वे ही विनाश को प्राप्त होंगे। द्रव्य का जरा भी बिगाड़ नहीं होता। द्रव्य द्रव्यतः कभी विनाश को प्राप्त नहीं होता। जो उत्पन्न और विनाश होते हैं वे भाव पुद्गल की पर्याय हैं।"

पाठक उपरोक्त विवेचन से समझ सकेंगे कि स्वामीजी ने ६ द्रव्यों का कितना मौलिक और गंभीर विवेचन सरल से सरल रूप में कर दिया है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से प्रत्येक द्रव्य का इतना हृदयग्राही तुलनात्मक वर्णन 'द्रव्यसंग्रह' 'पंचास्तिकाय' आदि इस विषयक प्रसिद्ध ग्रन्थों में भी नहीं मिलता।

तत्वज्ञान के निर्झर

स्वामीजी का समय तात्विक प्रश्नों की गुत्थी का था। जैन धर्म अनेक संम्प्रदायों में बंट चुका था और छोटे-बड़े अनेक मतभेद खड़े हो गये थे। स्वामीजी ने इन मतभेदों में से मूल मार्ग दिखाया। उन्होंने तात्विक और आध्यात्मिक

प्रश्नों का हल आगम दृष्टि से ही किया था। उनके सामने नए-नए प्रश्न आते रहते और उनका उत्तर हाथोहाथ वे देते। शीघ्र से शीघ्र दिए हुए उत्तर में भी अत्यन्त सरलता और चमत्कार रहता। उत्तरों में हृदयाग्राही दृष्टान्त और सरल मौलिक स्पष्टीकरण रहता। स्वामीजो को विशेष कर ग्रामों में ही धर्म-प्रचार का कार्य करना पड़ा था। उनके उत्तर अनपढ़ लोगों के लिए भी सहजगम्य होते। सूर्य की तरह उनकी वाणी सहज प्रकाशकारी थी। उनकी वाणी से गूढ़ से गूढ़ प्रश्न का भी अन्तर पट उसी तरह हट जाता जिस तरह प्रभात काल में पोह फटती है। इस दिशामें उनकी क्षमता बड़ी विचित्र थी। गूढ़ से गूढ़ प्रश्न उपस्थित किए जाने पर भी उन्हें सोचने विचारने की जरूरत नहीं होती, जैसे सारा ज्ञान हस्ताम्बलकवत हो। प्रश्नकर्त्ता का प्रश्न जैसे पहले से ही उनके पास होता और उत्तर भी जैसे पहले से ही गढ़ा गढ़ाया। उनका उत्तर बड़ा ही युक्ति पुरस्सर और अकाट्य होता। वह प्रश्न कर्त्ता की अन्तर विचारधारा को सम्पूर्ण रूप से स्पर्श करता और उसमें सुन्दर वैज्ञानिक ढंग से विषय का विश्लेषण होता। उत्तर में रहे हुए दृष्टान्त प्रश्नकर्त्ता के हृदय को चुम्बक की तरह आकर्षित कर उसमें दिव्य प्रकाश फैला देते। हम यहां कुछ ऐसे प्रसंग उपस्थित करते हैं जिनसे पाठकों को स्वामीजी की महान् बुद्धिमता और उनकी निर्मल तत्व-विवेचनी शक्ति का कुछ पता चलेगा।

स्वर्ग नर्क कौन ले जाता है ?

स्वामीजो एक बार बिहार करते-करते सिरियारी नामक ग्राम में पधारे। वहां एक श्रावक बोहरा खींवसर ने प्रश्न किया: " हे स्वामि! जीव को नर्क कौन ले जाता है ?" स्वामीजी ने उत्तर दिया: "जैसे भारी पत्थर अपने ही बोझ से अपने आप पैंदे बैठ जाता है, उसी तरह कर्म रूपी भार से जीव नर्क—अधोगति को जाता है।

श्रावक ने फिर पूछा : "जीव स्वर्ग कैसे जाता है—उसे स्वर्ग कौन ले जाता है ?" स्वामीजी बोले : "जैसे काठ का टुकड़ा पानी में डालने से स्वयं तैरता

है, उसे कोई सहारा देकर नहीं तिराता—वह अपने हल्केपन के स्वभाव से ही तैरता है उसी तरह करनी (धर्मकृत से) हलुकर्मी—हल्का बन कर जीव स्वर्ग को जाता है और कर्म भार से सम्पूर्ण रहित होने पर मोक्ष को।"

इसी तरह प्रश्न करने पर कि जीव का निस्तार—संसार-समुद्र से पार पहुँचना किस प्रकार हो, स्वामीजी ने एक सुन्दर दृष्टान्त देते हुए कहा: "पैसे को पानी में डालने से वह डूब जाता है। उसी पैसे को तपा और पीट कर उसकी कठोरी बना ली जाए और पानी पर छोड़ दी जाय तो वह तैरने लगेगी। इस कटोरी में पैसे को रखने से वह भी कटोरी के साथ तैरता रहेगा। इसी तरह संयम—इन्द्रिय दमन और क्रोधादि के उपसम से तथा तप से आत्मा को कृश कर हल्का बनाओ। कर्म भार के दूर होने से आत्मा स्वयं भी संसार-समुद्र से पार पहुँचेगी और अपने साथ दूसरों का निस्तार करने में भी सफल होगी।"

स्वामीजी की बुद्धि कितनी उपजाऊ थी, उनका ज्ञान कितना निर्मल और स्वच्छ था—इसका आभास उपरुक्त प्रसंग से मिलेगा। एक दुर्गम आध्यात्मिक विषय को उन्होंने कितने सरल ढंग से समझा दिया।

गुरु की परख

सभी धर्मों में गुरु को महान् स्थान दिया गया है। "गुरु गोविन्द दोनों खड़े काको लागूं पाँव। बलिहारी गुरु देव की सो गोविन्द दिया बताय।" —यह एक अत्यन्त प्रसिद्ध पद है जो गुरु की महत्ता और पूजास्पदता को साफ-साफ प्रगट करता है। जैन धर्म में गुरु पद का एक निराला ही आदर्श है। सद्गुरु की चरण-सेवा का महान लाभ जैन आंगमों में जगह-जगह वर्णित है। स्वामीजी ने गुरु पद के महत्व को अनूठे ढंग से सिद्ध किया है। वे कहते हैं: "देव, गुरु और धर्म ये तीन परमपद हैं। सच्चे देव में देव बुद्धि, सच्चे गुरु में गुरु बुद्धि, और सच्चे धर्म में धर्म बुद्धि—यही सम्यक्त्व अर्थात सम्यक् दर्शन है। सम्यक् दर्शन—वस्तु तत्त्व में यथा दृष्टि का होना मोक्ष का एक मार्ग है। तीन पदों में गुरु का

पद सब से ऊँचा है क्योंकि सच्चे देव और धर्म की प्राप्ति सच्चे गुरु को पाए विना अत्यन्त दुर्लभ है। तराजू की डण्डी के तीन छिद्र होते हैं—एक मध्य में और एक-एक दोनों किनारों पर। तकड़ी के दोनों पल्ले बीचवाले छिद्र पर ही समतुल रह सकते हैं। बीच वाले छिद्र की स्थिति में थोड़ा भी फर्क होने से—वह ठीक मध्य में न होने से उसका असर दोनों पल्लों पर पड़ता है और काण—अंतर पड़ जाती है। यदि बीचवाला छिद्र ठीक स्थान पर —मध्य में होता है तो दोनों पल्ले भी समतुल—समान झुके रहते हैं। देव, गुरु,और धर्म में गुरु-पद केन्द्र का पद होने से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। गुरु निर्ग्रंथ—निष्किंचन और गुणवान होने से ही सच्चा देव और सच्चा धर्म हाथ लगता है। यदि गुरु ही श्रद्धा-भ्रष्ट और हीनाचारी हो तो वह असली देव और धर्म के स्वरूप में फर्क डाल देता है—स्वरूप बतलाने में अंधेर कर देता है। निर्ग्रंथ साधु ही सच्चा गुरु होता है और ऐसा गुरु अरिहन्त भगवान को देव और जिन-आज्ञानुसार चलने में ही धर्म बतलाता है।

"हलुए से भरे थाल में भोजन करने से ही भोजन करनेवालों की पंक्ति को तृप्ति हो सकती है। खाली ठीकरे को देखकर भूख नहीं बुझ सकती। इसी तरह गुणवान निग्रंथ गुरु के चरणों की सेवा से ही आत्मा का कार्य सिद्ध हो सकता है। ठीकरे समान हीनाचारी पुरुषों को गुरु बनाकर उनके प्रति भक्तिभाव करने से नहीं। सत्ताईस गुणों से सम्पन्न उत्तम आचारी साधु ही सचा गुरु होता है। ऐसे गुरु के सेवन से निर्मल अहिंसा धर्म और निर्दोष देव की प्राप्ति होकर जीव मोक्ष को प्राप्त करता है।"

ग्रामीण लोगों को 'हलुए के थाल' और 'तराजू' के दृष्टान्त से गुरु की महिमा बतलाने की सूझ कितनी मौलिक और चमत्कार पूर्ण है—यह पाठक स्वयं अनुभव करेंगे। तत्वों का वैज्ञानिक ढंग से निरूपण कर उनके यथातथ्य स्वरूप को जीवित रूप में खड़ा कर देना—यह एक महान् दार्शनिक की कुशल तूलिका का ही काम हो सकता है। एक साधारण दार्शनिक और तत्ववेत्ता में ऐसी पैनी दृष्टि संभव नहीं।

विधवा कैसे ?

स्वामीजी एक असाधारण तत्वज्ञानी थे और साधारण से साधारण कथा वार्तालाप के प्रसंग में भी गूढ़ तत्व सिखा देते। वे ज्ञान के एक महान् भण्डार थे। उनकी प्रत्येक बात शिक्षा से भरी होती। ऐसे ज्ञानी संत यथा कदा ही प्रादुर्भूत होते हैं। एक बार की बात है पीपाड़ में एक बहिन बोली: "अमुक ने भीखणजी की श्रद्धा ली—उन्हें गुरु बनाया जिससे वह रांड—विधवा हो गई। वह जानती न थी कि वह भीषणजी से ही बातचीत कर रही है। वह स्वयं विधवा थी। स्वामीजी बोले: "तू तो भीषणजी की निंदा भी काफी करती मालूम देती है, तेरी अवस्था भी छोटी है, फिर तू बालविधवा कैसे हुई ?" यह तो अपने-अपने किस्मत का खेल है। संचित कर्म उदय में आये बिना नहीं रहते। 'कर्मों के फल भोगे बिना छुटकारा नहीं'—इस सत्य को कितने अद्‌भुत ढंग से स्वामीजी ने हृदयंगम करा दिया—यह उपरोक्त प्रसंग से साफ प्रकट है।

सुख दुःख का कारण

एक बार स्वामीजी से किसी ने प्रश्न किया: "महाराज साधुओं के भी असाता—रोग होने का क्या कारण है ?" स्वामीजी बोले जो आकाश में पत्थर फेंककर उसकी सीध में नीचे सिर करता है उसका सिर अवश्य फूटता है। इसी तरह बांधे हुए संचित कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। जब आकाश में पत्थर नहीं फेंके जाते तो सिर फूटने की सम्भावना भी नहीं रहती। इसी तरह साधु बनकर नये कर्मों को रोक देने से भविष्य में दुःख भी नहीं होगा।

जीव खोटा-खोटा कर्तव्य करै जब पुद्‌गल लागे ताम।
ते उदय आया दुःख उपजै, ते आप कमाया काम॥
पाप उदय थी दुःख हुवे जब कोई मत करीज्यो रोष।
किया जिसा फल भोगवै, पुद्‌गल नो सुं दोष॥

लाभ-अलाभ का कारण

विक्रम संवत् १८५९ के वर्ष देवगढ़ (मेवाड़) में १४ साधु और १४ साध्वियाँ कुल अठाईस ठाने थे। उस समय अन्य सम्प्रदाय के तीन साधु आए और स्वामीजी से बोले : "हमको तो यहाँ तीन साधुओं को भी पूरा आहार नहीं मिलता। आप लोगों को कैसे मिलता है ?" स्वामीजी बोले—"जिस द्वारिका नगरी में हजारों साधुओं को अन्न मिलता था वहां ढंढण ऋषि कोरे ही रहते थे। यह अन्तराय कर्म का उदय है।" स्वामीजी ने जरा भी अभिमान न करते हुए बड़े दार्शनिक ढंग से भिक्षा न मिलने के वास्तविक कारण को बतला दिया। उनकी बुद्धि वस्तु के तह तक पहुंचती।

स्वामीजी की बुद्धि में एक हंस का सा नीर-क्षीर विवेक था। वे तत्व को अतत्व से उसी तरह पृथक् कर दिखा देते, जिस तरह हंस क्षीर को नीर से अलग कर लेता है। उनकी बुद्धि एक ऐसा सूक्ष्म कांटा (तराजू) था जो बारीक से बारीक अन्तर को भी स्पष्ट बतला सकता। उनकी अन्तरभेदी बुद्धि तत्वों को उसी तरह मथ निकालती जिस तरह मथनी दूध में से मक्खन को निकाल लेती है। उनकी बुद्धि की इस विशेषता के अनेक प्रसंग मिलते हैं। हम कुछ यहां देते हैं।

पुराने काल में देवालय क्यों ?

एकबार स्वामीजी आउआ पधारे। वहांके उत्तमोजी इराणा स्वामीजी से बोले "आप देवरों—देवालयों—मन्दिरों का निषेध करते हैं परन्तु पहले—पुराने जमाने में बड़े-बड़े लखपति-करोड़पति हो चुके हैं जिन्होंने देवालय कराये।" स्वामीजो बोले : "यदि तुम्हारे पास ५ हजार का धन हो जाय तो देवालय कराओगे या नहीं ?" उसने उत्तर दिया :"अवश्य कराऊँ।" स्वामीजी ने पूछा : "तुममें जीवका कौन-सा भेद पाया जाता है ? तुममें गुणस्थान, योग, उपयोग और लेश्या कौन-कौन से और कितने पाते हैं ?" उत्तमोजी बोला:—"यह

तो मुझे मालूम नहीं।" स्वामीजी बोले: "आगे भी ऐसी ही समझ थी। रुपये होने से ज्ञान नही आ जाता।" "ज्ञान ज्ञानावर्णीय कर्मके क्षयोपशम से होता है और अर्थ लाभान्तराय कर्म के दूर होने से"—स्वामीजी ने यह भेद बतला कर गतानुगतिक रूप से आती हुई मूढ़ता को अपने आप समझने का मौका दिया।

कूर्मापुत्र के केवली होने का खुलासा

सं १८५४ के चातुर्मास में स्वामीजी खेरवे विराजे। स्वामीजी के साथ ४ साधु और थे। पर्यूषण पर्व के दिनों में कई श्रावक गच्छवासियों के उपाश्रय में व्याख्यान सुनने गए। वापिस आकर स्वामीजी से बोले: "स्वामीजी! अभी हमलोग उपाश्रय में व्याख्यान सुनकर आये हैं कि कूर्मापुत्र ने केवल ज्ञान उत्पन्न होने के बाद ६ महीने तक राज्य किया। एक दिन वह राजसभा में बैठा था उस समय वहां दो साधु आये। आकर खड़े हो गये पर बंदना न की। इस पर कूर्मापुत्र केवली ने उन साधुओं से पूछा: 'तुमलोगों ने मुझे वंदना क्यों न की? मैं केवलज्ञानी हूं'। तब उन साधुओं ने कहा:—'आपका भेष गृहस्थ का है इसलिये हमलोगों ने नमस्कार नहीं किया।' यह सुनकर कूर्मापुत्र बोला—ठीक-ठीक अब मैं समझा'।" यह कह कर श्रावकों ने स्वामीजी से पूछा "क्या यह कथा सत्य है? केवलज्ञानी होनेके बाद ६ महीने तक इस प्रकार राज्य करने को बात कैसी-कैसी लगती है।" स्वामीजी बोले: "यह बात बिलकुल मनगढन्त है। राज मोहनीय कर्म के उदय से किया जाता है जब कि केवलज्ञान की प्राप्ति मोहनीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय के बाद होती है। जो इस कथा को सत्य कहते हैं, न उनमें सम्यक्त्व है और न जो सुनकर सत्य मानते हैं उनमें ही।"

स्वामीजी की तत्वभेदिनी बुद्धि ने सत्यासत्य का निर्णय क्षण मात्र में ही कर दिया। कर्मों की प्रकृतियों का सूक्ष्म ज्ञान स्वामीजी की रचनाओं में

बड़े सुन्दर ढंग से प्रगट होता है। उनका दिव्य तत्वज्ञान क्षणमात्र में ही दृष्टि-उन्मेष कर देता।

साधु श्रावकके धर्म एक या दो ?

कई लोगों का सिद्धान्त था कि साधुधर्म और गृहस्थधर्म अलग-अलग हैं। स्वामीजी ने उनके एकत्व—पृथकत्व का विवेचन इस प्रकार किया है: "चौथे, पाँचवें, छठे, और तेरहवें गुणस्थान की श्रद्धा समान है परन्तु चारित्र का स्पर्श जुदा-जुदा है। जैसे सचित्त पानी में असंख्य जीव और नीलण-फूलण—काई में—अनन्त जीव होने का विश्वास चारों गुणस्थान वालों का समान है और उनमें पाप मानने की बुद्धि समान है इसलिये सबका धर्म भी समान है। चारित्र की स्पर्शना जुदी-जुदी होने से चोथे और पाँचवें गुणस्थानवाले जीवों की हिंसा करते हैं और बाद के गुणस्थानवाले नहीं करते, परन्तु इससे उनके धर्म में जुदाई नहीं आती। यदि चौथे और पांचवें गुणस्थानवाले हिंसा में धर्म समझने लगें तभी उनका धर्म अलग समझना चाहिये क्योंकि ऐसा होते ही वे मिथ्यात्वी की श्रेणी में आ जाते है। मिथ्यात्वी और समदृष्टि के धर्म में फर्क हो सकता है, समदृष्टि और समदृष्टिके धर्म में नहीं। उनका धर्म एक ही होता है। केवल देश सम्पूर्ण चारित्र का फर्क होता है।' स्वामीजी ने बड़े सुन्दर ढंग से शिक्षा दी है कि जिनधर्मी की श्रद्धा सम्पूर्ण होनी चाहिये। शक्ति के अनुसार चारित्र भेद तो स्वाभाविक है।

ज्ञान क्रिया का जोड़ा

स्वामीजी के समय में कई मतवाद खड़े हो गये थे। कई ज्ञान मात्र को मुक्ति का साधन मानते। कई ज्ञानशून्य क्रिया को। स्वामीजी ने इस विषय पर बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। ज्ञान और क्रिया दोनों की एक साथ जरुरत होने की बात को उन्होंने बड़ी बारीकी से समझाया है:

"अंधा और पंगुला—दोनों एक साथ मिल कर अटवी को पार कर डालते हैं। उसी तरह ज्ञान क्रिया के संयोग से ही जीव मोक्ष पाता है। क्रिया

ज्ञान नहीं है। वह जानती देखती नहीं। क्रिया तो कर्म को रोकने तोड़ने रूप—संवर-निर्जरा रूप भाव है। ज्ञान और दर्शन उपयोग हैं। वे बतलाते हैं—किस ओर दृष्टि रखना और किस मार्ग पर चलना। जो क्रिया को उपयोग कहते हैं, उनके मिथ्यात्व का गुरुतर रोग है। इसी तरह जो ज्ञान को क्रिया कहते हैं उनके भी मिथ्यात्व है। ज्ञान और क्रिया भिन्न २ हैं—दोनों को एक मत जानो। दोनों के स्वभाव भिन्न २ हैं। ज्ञान से जीवादि पदार्थ जाने जाते हैं। क्रिया से सन्मार्ग पर चला जाता है।

एक आदमी जानता है पर करता नहीं। दूसरा करता है पर जानता नहीं। ये दोनों ही मोक्ष नहीं पा सकते। जो जानता है (कि क्या करना) और (जो करना है वह) करता है वही मोक्ष पाता है।"

'ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः'—का कितना सुन्दर स्पष्टीकरण है।

पुण्य बंध कैसे होता है?

पुण्य शुभ कर्म को कहते हैं। पुण्य के उदय से हर तरह के सांसारिक भोगोपभोग प्राप्त होते हैं। स्वामीजी ने पुण्य की कामना न करनेका उपदेश देते हुए प्राप्त भोगोपभोग के त्याग का मार्मिक उपदेश दिया है। हम यहाँ उसका सार देते हैं:—"पुण्य के सुख बड़े कच्चे होते हैं। उन्हें विनाश होते देर नहीं लगती। उनकी वाञ्छा नहीं करनी चाहिये जिससे कि शीघ्र ही भव-भ्रमण रूपी समुद्र से बेड़ा पार लगे। जो पुण्य की वाञ्छा करता है वह कामभोग की वांछा करता है। कामभोग से संसार की वृद्धि होती है और जन्म-मरण-शोक आदि दुःख सताते हैं। पुण्य के सुख अशाश्वत हैं पर वे भी करनी—शुभ कृत्यों के विना संचित नहीं होते। पुण्य की वांछा से पुण्य उत्पन्न नहीं होते। वे तो निरवद्य योग—निर्जरा की क्रिया से सहज ही आकर लगते हैं। भली लेश्या, भले परिणामों से अवश्य ही निर्जरा होती है और उस समय पुण्य सहज स्वभाव से लग जाते हैं। जो निर्जरा की क्रिया करता हुआ पुण्य की कामना करता है वह मनुष्यजन्मको

व्यर्थ खोता है। पुण्य चोस्पर्शी कर्म हैं। जो उनको वाञ्छा करते हैं वे मूढ़ हैं और कर्म धर्म को नहीं पहचानते। पुण्य से जो-जो वस्तु मिलती है उसके त्याग से निर्जरा होती है। जो पुण्य को गृद्ध होकर भोगता है उसके चिकने स्निग्ध कर्म बंध जाते हैं।"

भौतिक-उन्नति के चरम विकाश पर पहुँची हुई दुनिया आज भोगों में गृद्ध होकर किस तरह अपनी तबाही कर रही है वह सब की आँखों के सामने है। ऐश्वर्य की शोभा त्याग और अनासक्ति है, भोग और लिप्सा नहीं—यह बात स्वामीजी ने बड़े गंभीर रूप से बतलाई है।

सकाम अकाम निर्जरा

आत्म-प्रदेशों से कर्मों के आंशिक रूप से दूर होने को निर्जरा कहते हैं—यह हम पहले बतला आए हैं। स्वामीजी ने अकाम और सकाम निर्जरा का भेद इस प्रकार स्पष्ट किया है: "निर्जरा दो तरह की होती है। एक अकाम और दूसरा —सकाम। तालाब धूप, गर्मी से सूखता है और नल द्वारा उसका जल बाहर निकाल देने से भी। उसी तरह कर्म का क्षय घिस कर अपने आप भी होता है और इच्छा कर करने से भी होता है। भूख, तृषा, शीत, तपादि अनेक कष्ट, कर्मों के उदय से मनुष्य को भोगने पड़ते हैं। इस तरह उदय में आकर कर्मों के घिस कर झड़ जाने से जीव कुछ हल्का होता है। यह अकाम निर्जरा है। वह सहज ही होती है। जीव इसके लिए प्रयास नहीं करता।

जो बिना कामना सहज ही होती है वह अकाम निर्जरा है। कोई इहलोक के सुख के लिए तप करता है, कोई परलोक के लिए तप करता है। इसी तरह कोई यश महिमा के लिये तप करता है और इस तरह भी कर्म कड़ते हैं पर यह भी अकाम निर्जरा है। जिन-भगवान ने बारह प्रकार के तप बतलाए हैं। जो केवल कर्म काटने की भावना से इन तपों का आचरण करता है उसके आत्म-प्रदेश देशत उज्वल होते जाते हैं। यह सकाम निर्जरा है। कर्म काटने की वांछा से ...

की जाती है अतः उससे होने वाली निर्जरा भी सकाम हुई। जैसे साबुन डाल कर कपड़ों को तपाया जाता है, फिर जल से छांटकर उन्हे पीटा जाता है और फिर शुद्ध पानी से धोने से मैल छंट जाता है उसी तरह तप कर आत्मा को तपा, ज्ञान रूपी जल से छांट कर, ध्यान रूपी जलमें झकोलने से आत्म-प्रदेशों से कर्म-मेल झड़ जाता है। ज्ञान रूपी शुद्ध साबुन से, तप रुपी निर्मल नीर लेकर अंतर-आत्मा रूपी धोबी अपने निज गुण रूपी चीर को धोता है तभी सकाम निर्जरा होती है। यही निर्जरा की शुद्ध क्रिया है। अनादि काल से सहज ही निर्जरा हो रही है उस अकाम निर्जरा से आत्मा का कार्य सिद्ध नहीं होता। वह निर्जरा तो हो-हो कर मिट जाती है। जो कर्म-बन्धन से, इच्छा कर, सद् उपाय द्वारा निवृत नहीं होता वह संसार में गोता खाता रहता है। जैसे मवाद से भरा हुआ फोड़ा उस समय तक सूखता नहीं जब तक कि नई मवाद की उत्पत्ति को रोक कर पुरानी मवाद निकाल उसे साफ नहीं किया जाता, उसी तरह जीव उस समय तक कर्मों से मुक्त नहीं होता जब तक नए कर्मों के आगमन को रोककर चेष्टा पूर्वक संचित कर्मों को उससे अलग नहीं किया जाता। अपने आप मवाद निकलते रहने पर भी जैसे घाव सूखता नहीं, वैसे ही अकाम निर्जरा होते रहने पर भी जीव कर्म रहित नहीं होता।"

धोबी और भरी निंगल—फोड़े के रोजमर्रा अनुभव के दृष्टान्तों को देकर स्वामीजी ने गूढ़ विषय को भी कितना सरल बना दिया। सूखी चीज को सरस उसे जनग्राह्य बना देना—स्वामीजी की वाणी की एक खास विशेषता थी। उनका व्यवहारिक ज्ञान बड़ा चढ़ा-बढ़ा था। एक महान् वैज्ञानिक की तरह उनकी निरीक्षण शक्ति बड़ी तेज थी। वे साधारण जीवन की बातों को लेकर उनके आधार से गूढ़ तत्वज्ञान को भी जन-सुलभ कर देने की अनुपम क्षमता रखते थे। ऐसी शक्ति एक सहज ज्ञानी में ही मिल सकती है

नदी उतरना बनाम फूल चढ़ाना

स्वामीजी के गूढ़ तत्वज्ञान और गहरी आध्यात्म भावना को प्रगट करने वाले

और भी अनेक प्रसंग यहाँ दिये जा सकते हैं पर स्थानाभाव से ऐसा करने में संकोच किया जाता है। केवल थोड़े से प्रसंग ही हम यहाँ और देते हैं।

एक बार एक देवलपंथी स्वामीजी से बोला: "आप जैसे नदी उतरने में धर्म बतलाते हैं वैसे ही फूल चढ़ाने में भी धर्म है"। स्वामीजी बोले "तुम लोगों के सामने तीन तरहके फूल हों—(१) सूखे (२) दो-तीन दिन के मुर्झाये और (३) कच्ची कलियाँ तो इन में से कौन से फूल चढ़ाओगे?" देवल पंथी बोला "चुन-चुन कर कच्ची कलियाँ चढ़ावेंगे।" स्वामीजी बोले: "तुम लोगोंके परिणाम जीव-हिंसा के रहते हैं और हमलोगों के परिणाम दया पालन के। एक नदी में कमर तक का जल है, एक में घुटने तक का और एक नदी सूखी है। हम लोग इनमेंसे अधिक जल वाली नदी को २-४ कोस की अंवलाई (घुराव) खा कर भी टालने (बचाने) की चेष्टा करते हैं और कम-से-कम जल वाली नदी से पार होते हैं। तुम जीवों को देख देख कर बिनते हो। हमलोग देख देख कर टालते हैं। तुम्हारा और हमारा क्रम ही उलटा है। नदी उत्तरने के साथ फूल चढ़ाने की बातकी समानता नहीं।"

अन्तर भावना के सूक्ष्म सुन्दर विश्लेषण द्वारा कितना सुन्दर नीर-क्षीर विवेक किया है। स्वामीजी के तत्वज्ञान की विवेक पूर्ण तूलिका अपनी चित्रकारी में कितनी कुशल थी – यह उसका नमूना है। एक कुशल चित्रकार की तरह वे बारीक से बारीक रेखा को भी इतनी स्पष्टता से खींच सकते कि वह एक साधारण से साधारण मनुष्य के लिए भी सुबोध होती।

एक हों जांय

किसी ने स्वामीजी से कहा: "आप और बाईस सम्प्रदाय के साधु एक हो जाइए। स्वामीजी बोले "जिस प्रकार आप महाजन और आडी जात वाले एक नहीं हो सकते—एकता एक कुलमें जन्म लेने से ही होती है, उसी प्रकार सम्यक्त्व और आचरण ही हमारे कुल हैं। जा इनमें हमसे मिलते हैं वे ही हम में मिल सकते हैं।"

एक से संस्कारों विना एकता निभ नहीं सकती—इस तत्व को स्वामीजी ने एक हृदयग्राही ढ़ंग से समझाया है।

श्रावक में आत्मा सात या आठ ?

माधोपुर में गूजरमल जी और केसूरामजी श्रावक में चर्चा हुई। श्रावक के आत्मा ८ माननी चाहिये या ७ इस विषय को लेकर गहरी तन गई। स्वामीजी ने विषय का खुलासा इस प्रकार किया :

"श्रावक में चारित्र आत्मा सम्पूर्ण नहीं पाती इस अपेक्षा से सात और दे चारित्र आत्मा पाती है इस अपेक्षा से आठ आत्मा समझनी चाहिये।"

स्वामीजी ने अनेकान्त सिद्धान्त से तत्व का सुन्दर निचोड़ कर दिया।

कई भोले लोग कहा करते—"ये साधु लोग अपने व्रतों में दोष लगाते होंगे परन्तु अपने से तो अच्छे हैं। विचारे कच्चा जल नहीं पीते, स्त्री नहीं रखते। इन गुणों के तो धारक हैं।" स्वामीजी ने इन की चर्चा की मीमांसा करते हुए कहा : "कोई एकासन का व्रत ले चाहे जितनी रोटियाँ खाले तोभी इससे उसे व्रत-भंग का दोष नहीं लगता परन्तु जो उपवास का प्रत्याख्यान ले आधी रोटी भी खा लेता है, वह व्रत भंगका महा दोषी होता। इसी तरह जिसे पाप के त्याग नहीं होते वह पापी और जो हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह—इन पाँच पाप का त्याग कर साधु बनने के बाद अपने व्रतों को निर्मूल कर देता है, वह महा पापी कहलाता है। ऐसा पुरुष कभी पूजनीय नहीं होता।"

स्वामीजी ने हीनाचारी साधु को अव्रती गृहस्थ से अधिक पापी बतलाया है।

ज्ञान आत्मा में

किसी ने कहा : "पुस्तकों को जमीन पर नहीं रखना चाहिए। उनको पीठ देकर नहीं बैठना चाहिये। पुस्तकें ज्ञान है उनको आशातना नहीं करनी चाहिये।" स्वामीजी ने कहा "यदि पुस्तकों को ही ज्ञान समझते हो तो यह एक अनोखी सूझ है। यदि पुस्तकें फट जांय तो ज्ञान भी फट जाय। पुस्तकें सड़ जांय तो ज्ञान भी सड़ जाय।

यदि हवासे कागज उड़ जाय तो ज्ञान भी उड़ जाय । यदि अग्निसे पुस्तक जल जाय तो ज्ञान भी जल जाय । यदि पुस्तकें कोई चोर ले तो ज्ञान की भी चोरी हो गई । अक्षरों के आकार केवल पहचानने के चिन्ह हैं। पुस्तकों में जो बातें लिखी होती हैं उनको जानना ही ज्ञान है । जानना या ज्ञान आत्म-स्वरूप है । ज्ञान आत्माका चिन्ह है और सदा उसके अन्दर रहता है। पुस्तक पन्ने अजीव हैं और वे ज्ञान से भिन्न हैं । इनका नाश हो सकता है परन्तु ज्ञान का कभी नाश नहीं होता ।"

साधु कौन ?

एक बार स्वामीजी से प्रश्न किया गया: "साधु किसे कहते हैं और असाधु किसे?" स्वामीजी ने उत्तर दिया: "रुपये उधार लेकर जो वादे पर वापिस कर देता है, वह साहूकार कहलाता है और जो रुपये लेकर वादे पर लौटाता नहीं और तकादा करने पर उलटा झगड़ा खड़ाकर देता है, वह दिवालिया कहलाता है । ठीक उसी तरह जो अहिंसा, सत्य, अचोरी, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूपी महाव्रतोंको अंगीकार कर उनका यथोचित पालन करते हुए उन्हें पार उतारता है वह सच्चा साधु है और जो इन ग्रहण किए हुए महाव्रतोंका सही-सही पालन नहीं करता वह असाधु है । आत्मा की साधना—यही साधुत्व है। इस साधनासे पतित न होना ही साधुत्व का चिन्ह है । जो दोष होने पर उसे स्वीकार नहीं करता और उसका यथोचित दण्ड नहीं लेता परन्तु उलटा दोषों को छिपाता या उन्हें धर्म सिद्ध करता है वह असाधु है ।"

शिल्पी नहीं

किसीने स्वामीजी से कहा: "समझदार व्यक्ति तो बहुत हैं परन्तु समझते इतने थोड़े क्यों हैं ?" स्वामीजी बोले: "मकराने के पत्थर में मूर्ति होने का गुण अवश्य है परन्तु इतने शिल्पी नहीं कि सभी मकराने के पत्थरों की मूर्तियां हो सकें । इसी प्रकार समझने वाले हलुकर्मी जीव बहुत होने पर भी उतने समझाने वाले कहाँ हैं जो समझ सकें ।"

व्रत लोप का लाभालाभ

एक बार स्वामीजी को किसी ने कहा: "आप किसी को सौगंध त्याग — प्रत्याख्यान कराते हैं उनको ग्रहण कर जो तोड़ता है—भंग करता है उसका पाप आपको होता है।" स्वामीजी ने तत्क्षण उदाहरण देकर उसे समझाया: "एक साहूकार था। उसने ५०) में एक वस्त्र खरीदा और १००) में उसे बेच दिया। उसे ५०) रुपये का फायदा हुआ। इस साहूकार से जिसने वस्त्र खरीदा उसने २००) रुपये में बेच डाला। १००) का उसे लाभ हुआ। इस लाभ में प्रथम साहूकार का कोई भाग—अंश नहीं हो सकता। अब सोचो कि इस कपड़े को १००) के लाभ पर न बेच यदि साहूकार उस समूचे को जला डाले। यह नुकसान भी इस दूसरे साहूकार को ही होगा। प्रथम साहूकार इसका भागी नहीं होगा। इसी तरह हम जो समझा कर सौगन्ध—त्याग कराते हैं उसका नफा तो व्रतादि अंगीकार कराते समय ही हमको हो चुकता है। बाद में व्रत निभाने न निभाने की जिम्मेदारी व्रतधारी की होती है और निभाने न निभाने का लाभालाभ भी उसी को होता है। उसके साथ हमारा कोई सरोकार नहीं।"

रोग कैसे हटे ?

एक रोगी को एक वैद्य ने कहा :" यह औषधि पी लो, तुम्हारा रोग दूर हो जायगा।" रोगी बोला :"यह औषधि मेरे मुंह में मत डालिए। इसे मेरी पीठ पर उंडेल दीजिए। यदि औषधि में गुण होगा तो पीठ पर डाल लेने से भी वह फायदा करेगी।"

जिस तरह पेट में डालने की दवा को पीठ पर डालने से कोई लाभ नहीं होता, उसी तरह संतों के वचनों को सुन कर उन पर श्रद्धा लाए बिना मिथ्यात्व रोग नहीं मिटता। संतों की बताई हुई बात को श्रद्धापूर्वक व्यवहार में लाने से ही आत्मा के कष्ट कटते हैं।

देने में धर्म पाप

स्वामीजी से एक बार किसी ने प्रश्न किया: "किसीने किसी को ग्यारहवां

(पौषध) व्रत करने के लिए मकान दिया। इसमें उसको क्या हुआ?" स्वामीजी ने उत्तर दिया "घर मालिक ने यह जो कहा कि मेरे घर पौषध कीजिए सो उसमें धर्म हुआ।" प्रश्नकर्त्ताने फिर पूछा —"मकान दिया उसमें क्या हुआ?" स्वामीजी बोले: "मकान क्या समूचा—सदा के लिए दे दिया? मकान परिग्रह है। परिग्रह सेवनमें धर्म नहीं है और न सेवन कराने में धर्म है। मकान में सामायक प्रतिक्रमण करने दिया उसमें धर्म हुआ।"

पौषध और वस्त्र

किसीने कहा: "पौषध व्रत में थोड़े वस्त्र रखने वाले को थोड़ा और अधिक वस्त्र रखने वाले को अधिक अव्रत लगता है। यदि ऐसा नहीं तो पड़िलेहन न करने वाले को प्रायश्चित क्यों आता?" स्वामीजी ने खुलासा करते हुए कहा वस्त्र रखना कोई जरूरी नहीं है। वस्त्र नहीं रखने से पौषध व्रत और अच्छा होता है; लेकिन बिना वस्त्रों के जो परिषह—कष्ट होता है वह सहने की शक्ति न होने से वस्त्र रक्खा जाता है और बिना पड़िलेहन किए वस्त्र काम में लाने का त्याग है इसलिए पड़िलेहन करना पड़ता है। यदि वह पड़िलेहन किए बिना ही वस्त्र काममें लाता है तो उसके त्याग का भङ्ग होता है और इसलिए उसे प्रायश्चित आता है। जैसे किसी को बिना छाना पानी पीने का त्याग हो; अब जब वह पानी पीता है तो छान कर पानी पीता है। यदि नहीं छानता तो पानी नहीं पी सकता। पानी पीए बिना रहा नहीं जाता इसलिए पानी छानना पड़ता है। परन्तु वह पानी दया के लिए या त्याग निभाने के लिए नहीं छानता, उसका छानना सिर्फ प्यास बुझानेके लिए ही होता है। इसी तरह वस्त्र रख सकने के लिए ही वह पड़िलेहन करता है। बिना पड़िलेहन के वह वस्त्र रख ही नहीं सकता।

रक्षा किसकी ?

किसीने कहा: "सामायक करते समय शरीर का परिमार्जन कर खाज करने में धर्म और बिना परिमार्जन कर खाज करने में पाप होता है। स्वामीजी ने उसे समझाने के लिए प्रश्न किया: "कोई चींटो मच्छर आदि डंक मारता है तो वह शरीर

के मारता है कि सामायक के ?" उत्तर मिला—"शरीरके।" स्वामीजीने कहा : "पूंज कर खाज करना यह सामायक की रक्षा है या अपने शरीर की ?" उत्तर मिला—"शरीर की।" "यत्न सामायक का करना चाहिए या शरीर का ?" जवाब मिला: "सामायिक का।" स्वामीजीने कहा : "सामायक का यत्न तब अधिक होगा जब वह किसीके डंक मारने पर समभावपूर्वक सहन करेगा। खाज न करनेसे सामायक भंग न हो कर पुष्ट ही होगी। परिमार्जन कर या बिना परिमार्जन खाज करना शरीर का यत्न है। उसमें धर्म नहीं।"

गाड़ी और गदहा

किसीने स्वामीजी से प्रश्न किया: "कोई साधु रास्ते में थक गया हो और उधर सहज ही में कोई गाड़ी आ गई हो तो उस पर साधु को बिठाकर लाया जाय तो यह कार्य कैसा ?" स्वामीजी बोले:--"अगर गाड़ीके बदले गदहा हो और उस पर बैठाया जाय तो कैसा ?" प्रश्न कर्त्ता भुंझला कर बोला :—"आप गदहा का जिक्र क्यों करते हैं ?" स्वामीजीने उत्तर दिया—"साधुके लिये गाड़ी पर चढ़ना उतना ही उपहास्यास्पद है जितना कि गदहे पर चढ़ना।"

स्थानक कैसे ?

जो साधुओंके निमित बनाए हुए स्थानकों में रहते हैं और यह कह कर कि हमने कब स्थानक बनानेके लिए कहा था अपने काम को निर्दोष ठहराते हैं, उनके लिए स्वामीजी ने निम्न दृष्टान्त दिया:" जंवाई ससुराल जाता है तब वह कब कहता है कि मेरे लिए हलुआ बनवाइए परन्तु चूंकि हलुआ बनाने पर वह खाता है इसलिए ससुराल वाले हलुवा बनाते हैं। यदि वह हलुवा खाने का त्याग कर दे तो उसके लिए हलुवा नहीं बनाया जायगा। इसी तरह लड़का कब कहता है कि मेरी सगाई कीजिए, परन्तु माता-पिताके सगाई करने पर खुशी-खुशी विवाह कर लेता है इसलिए माता-पिता सगाई और विवाह करते हैं। यदि लड़का विवाह न करने की कसम खा जाय तो माता-पिता उसकी सगाई नहीं करेंगे। उसी तरह साधु लोग नहीं कहते कि हमारे लिए स्थानक बनाओ परंतु जब गृहस्थ लोग उनके लिये स्थानक बनाते हैं तो वे उनमें रहने लगते हैं। यदि वे स्थानक में ठहरने का त्याग कर दें तो श्रावक भी स्थानक बनाना छोड़ दें।"

: ७ :

आध्यात्मिक योगी

मिथिला के अधिपति नमि राजर्षिने पुत्र को राज्य सौंप दीक्षा ली। उस समय इन्द्र ब्राह्मण का रूप धारण कर नमि राजर्षि के पास आ बोलने लगा—"हे भगवन्! अग्नि और वायुके द्वारा ये मन्दिर और आप का अन्तःपुर दग्ध हो रहे हैं। जरा उनकी ओर दृष्टि क्यों नहीं डालते?" नमि राजर्षि ने जवाब दिया: "मिथिला नगरी में हमारा कुछ नहीं। मिथिला के जलने से हमारा कुछ नहीं जलता। मैं तो सुखपूर्वक जीता और बसता हूँ। जिस भिक्षु ने पुत्र कलात्रादि का त्याग कर दिया और जो सर्व व्यापार से रहित है उसके लिये प्रिय अप्रिय कुछ भी नहीं। सर्वतः विमुक्त एकान्तानुपश्यो–आत्मलक्षी–मुनि, अनगार, भिक्षु को हमेशा क्षेम कुशल है।" नमि राजर्षि के इस उत्तर से उनकी आत्म-दशा का पूरा-पूरा पता चलता है। यह एक आत्मज्ञानी की अनूठी आत्मदशा थी, जिसे त्यागी वैरागी ही समझ सकते हैं। स्वामीजी की आत्म-दशा भी ऐसी ही निर्विकार थी। वे एक अनूठे आत्मज्ञानी थे। शुद्ध आत्मदशा को प्राप्त करना—यही स्वामीजी के जीवन को साध थी और इसी कारण से उनकी चित्तवृत्ति सब विकल्पों से परे रह कर उसकी साधना में एकान्त निमग्न थी। जब हम स्वामीजी को इसी तरह के एकान्त-अनुपश्यी—आत्मलक्षी के रूप में देखने की चेष्टा करते हैं तभी हमें उनकी सच्ची तह लग पाती है। स्वामीजी अपनी आत्मा में ही बसते और जीते थे। आत्म-बास ही उनके लिये सब से बड़ा कुशल और क्षेम था। बाह्य सांसारिक विकल्पों में वे मुरझाते नहीं थे। स्वामीजी कहा करते: "समभाव राखै ते सुज्ञानी" –जो आत्मा को तौल कर रखता है, रागद्वेष के वश समभाव को—चित्त-समाधि

को नहीं खोता, वही सच्चा ज्ञानी है।" स्वामीजी जीवन के प्रतिपल इस समभाव की रक्षा करते थे। उनकी अन्तर-भावना धर्म-ध्यान से ओत-प्रोत रहती और हर समय वे आत्मा के एकान्त हित की बात को सामने रख कर ही कदम उठाते। वे एक आध्यात्मिक योगी थे। आत्म-साधना उनके जीवन का महा योग था। उनके विचारों और दृष्टान्तों में आध्यात्मिकता कूट-कूट कर भरी हुई है। हम उनके कुछ विचार यहाँ उपस्थित करते हैं जिससे कि पाठकों को उनके जीवन की इस विशेषता का अंदाजा हो सके।

मृत्यु और मोह

रोग, वियोग, मृत्यु आदि कष्ट पड़ने पर संसारी लोग रोना-पीटना करने लगते हैं। स्वामीजी ने एक बार कहा था: "ऐसे अवसरों पर रोना-पीटना नहीं चाहिए। अपनी आत्मा को मजबूत बना लेना चाहिए। धैर्य और समभाव से सहन करना चाहिए। सिर पर कर्ज होने से उतारने की इच्छा व समर्थ न होने पर भी जैसे पाने वाला जबरदस्ती अपने रुपये अदा कर लेता है, उसी तरह संचित कर्म उदय में आकर फल दिए बिना नहीं रह सकते। जब महाजन कर्ज अदा करता है तो मूर्ख होने लगता है पर चतुर विचार करता है: 'लो चलो अच्छा ही हुआ। कुछ बोझा तो हलका हुआ। रुपये तो अंत-पंत देने ही पड़ते। आज ही चुक गए तो टण्टा नहीं रहा'। इसी तरह से कष्ट के समय सोचना चाहिए— 'यह कर्म-कर्ज चुक रहा है। आज नहीं तो कल संचित कर्मों का फल तो भोगना ही पड़ता। अच्छा हुआ जो आज ही उदय में आ गए। कुछ तो आत्मा हल्की हुई'।"

स्वामीजी के उपरोक्त उपदेश में उनकी आध्यात्मिकता फूट पड़ती है। शोक विह्वल मनुष्य के लिए कितना सुन्दर उपदेश उपरोक्त अवतरण में है।

इसी तरह स्वामीजी ने एक बार कहा था: "एक मनुष्य विवाह के कुछ दिनों बाद ही बाल्यावस्था में चल बसा। यह सुन कर लोगों में हाहाकार मच गया लोग कहने लगे: 'बेचारी बारह वर्ष की लड़की का क्या हवाल होगा? उसके दिन कैसे कटेंगे? गजब हो गया!' इस तरह विलाप कर लोग सोचते हैं मानों वे दया

कर रहे हैं। परन्तु वास्तव में वे उसके कामभोग—ऐशोआराम की ही चिंता करते हैं। सभी लोग यही सोचते हैं कि यदि लड़का जीता रहता तो २।४ लड़के लड़कियां होते। लड़की को सुख मिलता। परन्तु क्या यह भी कोई सोचता है कि इन कामभोगों के सेवन से लड़की का क्या हवाल होता? न कोई यही सोचता है कि मृत लड़के की कामसेवन से क्या गति हुई होगी। संसारी लोगों की सत्य की ओर दृष्टि जानी मुश्किल है। ज्ञानीपुरुष जन्म-मरण का हर्ष शोक नहीं करते। वे केवल परभव की चिंता करते हैं।"

स्वामीजी ने कितना सुन्दर विवेक दिया है। हम मौत देख कर स्वयं विह्वल हो जाते हैं और विधवा को भी उसकी याद दिला-दिला कर उसके जीवन को दुर्वह कर देते हैं। जीवन को धर्मध्यान में लगा देने से यह वियोग-व्यथा कितनी शांत हो सकती है और जीवन-वहन कितना सरल—यह स्वामीजो के उपरोक्त अवतरण से समझना चाहिए।

पाँच महाव्रत और उनकी संगति

स्वामीजी कहा करते थे कि हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह इन पाँचों पापों के युगपत् त्याग से ही कोई जैन साधु बन सकता है। ऐसा त्याग भी सर्वथा और यावज्जीवक होना चाहिए। जो एक या अधिक पापों का त्याग करता है परन्तु सब का एक साथ नहीं, अथवा त्याग तो सब का करता है परन्तु सम्पूर्ण रूप से—तीन करण तीन योग से नहीं—वह गृहाचारी है—साधु नहीं। सर्व पापों से एक साथ सम्पूर्ण विरति को ही महाव्रत कहते हैं।

स्वामीजी ने अपने इस सिद्धान्त को गुरु-शिष्य के संवाद रूप में बहुत सुन्दर ढंग से समझाया है:

गुरु: "हिंसा, चोरी, झूठ, अब्रह्मचर्य और परिग्रह इन दुष्कर्मों के आचारण से जीव कर्मों को उपार्जन कर चार गति रूप संसार में भ्रमण करता है।

अहिंसा, अमिथ्या, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांचों महाव्रतों का निर-

तिचार पालन करने वाला अणगार नये कर्मों का उपार्जन न करता हुआ पुराने कर्मों का क्षय करता है और इस प्रकार अपनी आत्मा को निर्मल कर मोक्ष प्राप्त करता है।"

शिष्य : "मैं पहला महाव्रत ग्रहण करता हूँ—मैं छः प्रकार के जीवों की हिंसा नहीं करूँगा परन्तु मेरी जबान इतनी वश नहीं कि मैं झूठ छोड़ सकूं। अतः स्वामीजी! झूठ बोलने की मुझे छूट है।"

गुरु : "भगवान के बताए हुए पाँच महाव्रत इस तरह ग्रहण नहीं किए जाते। जब तुम झूठ बोलने के त्याग नहीं करते तब यह विश्वास कैसे हो कि तुम हिंसा में धर्म नहीं ठहरावोगे। झूठ बोलनेवाला यह कहते संकोच कैसे करेगा कि देव, गुरु और धर्म के लिये प्राणियों की हिसा करनेमें बुराई नहीं और आरंभादि कर देवलादि बनाने से जीव भली गति को प्राप्त करता है। मिथ्या भाषण द्वारा कोई इस सिद्धान्त का प्रचार करने लग जाय कि हिंसा में भी धर्म है तो महाव्रत की तो बात दूर रही समकित और चली जाय।"

शिष्य : "स्वामि! मैं हिंसा और झूठ दोनों का त्याग करूँगा परन्तु चोरी नहीं छोड़ सकता। धन से मुझे अत्यन्त मोह है।"

गुरु : "यदि तू जीव हिसा नहीं करेगा और झूठ नहीं बोलेगा तो तेरी चोरी कैसे निभेगी? यदि तू चोरी कर सत्य बोलेगा तो लोग तुझे चोरी कब करने देंगे? वे तो तुझे मुंह पर ही फटकार बतायंगे। परधन की चोरी करने से मालिक दुःख पाता है। किसी को दुःख देना हिंसा है। यदि तू कहेगा कि इसमें हिंसा नहीं तो पहले दोनों ही महाव्रत चकनाचूर हो जायंगे।"

शिष्य : "मैं तीनों महाव्रतों को अच्छी तरह ग्रहण करता हूँ। परन्तु चौथा महाव्रत स्वीकार करना—मुझ से नहीं बनता। मोह उदय से मेरी आत्मा वश नहीं। मैं ब्रह्मचर्य पूर्वक कैसे रह सकता हूं?"

गुरु : "चौथे आश्रव—अब्रह्मचर्य के सेवन से पहले तीनों महाव्रत भंग हो जाते हैं। अब्रह्मचर्य सब गुणों को एक पलक मात्र में ही उस तरह छार कर देता है जिस तरह पीनी हुई रुई को आग। मैथुन से पंचेंद्रिय जीवों की हिंसा होती है। हिंसा नहीं होती ऐसा कहने से झूठ का दोष लगता है। अब्रह्मचर्य सेवन में जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा नहीं। मैथुन सेवन से भगवान की आज्ञा का भंग होता है—उसकी चोरी लगती है। इस तरह तीनों ही महाव्रत खण्डित हो जाते हैं।"

शिष्य : "मैं चारों ही महाव्रतों को ग्रहण करता हूँ; परन्तु पाँचवां महाव्रत कैसे ग्रहण करूँ? ममता छोड़ना मेरे लिए कठिन है। मैं नव ही प्रकार का परिग्रह रखूंगा।"

गुरु : "क्षेत्र-वास्तु, धन-धान्य, द्विपद-चौपद हिरण्य-सुवर्ण और कुम्भी धातु—ये परिग्रह—हिंसा, झूठ चोरी और अब्रह्मचर्य—इन चारों आश्रवों के मूल—आधार हैं। तू परिग्रह की छूट रख कर अन्य व्रतों का किस तरह पालन करेगा?" ऐसा कहना तो तुम्हारी निरी भूल है।"

शिष्य : "खैर मैं पांचों ही आश्रवों का त्याग करूँगा परन्तु केवल एक करण तीन योग से। मेरे स्नेही संगी बहुत हैं, अतः मैं कराने और अनुमोदन करने की छूट रखता हूं।"

गुरु : "घर में थे तब तो तुम्हारी कोई गिनती ही नहीं करता था और खाने के लिये तुम्हें अनाज तक नहीं मिलता था और अब भगवान के साधुओं का वेष ग्रहण करने की इच्छा कर राज्य करने चले हो। तूने त्याग कर केवल अपना घर त्यागा है—उसमें हो कर कितना धन-धान्य होगा? अब तो तू लोक में हुक्म चलाने की मन्शा करता है—इस हिसाब से तू एक महा राजा से कम कहां है?"

शिष्य : " मैं पांचों ही आश्रवों का २ करण ३ योग से त्याग करता हूं। अब

केवल अनुमोदन की छूट बाकी रहती है। अब मेरे वैराग्य में कोई कमी नहीं।"

गुरु : "अनुमोदन की छूट रख लेने से तू अशुद्ध आहार बहरेगा—गृहस्थ के साथ तुम्हारा संभोग बना रहेगा—और इससे तुम्हारे पाँचों ही महाव्रतों में बिगाड़ हो जायगा। पांचों ही आश्रवों में हर्ष भाव रहने से उनके प्रति तुम्हारा आदरभाव नहीं छूटेगा। इस तरह मन, वचन, काया—इन तीनों ही योग के विषयों में तुम्हारा आर्त-रौद्र ध्यान रहेगा।

पांचों ही आश्रवों का तीन करण तोन योग से परिहार किए बिना कोई अणगार नहीं बन सकता। धर्म और शुक्ल ध्यान के ध्यान से ही अणगार होता है।"

यह सुन कर शिष्य ने पाँचों महाव्रत युगपत् रूप से और तीन करण तीन योग से यावज्जीवन के लिये ग्रहण कर आत्म-कल्याण किया।

गीता में कहा है :

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जाग्रति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने :॥

इसका अर्थ है : " जो सम्पूर्ण प्राणियों के लिए रात्रि है उस नित्य शुद्ध बोधस्वरूप परमानन्द में संयमी पुरुष जागता है और जिस नाशशील क्षणभङ्गुर सांसारिक सुख में समस्त भूतप्राणी जागते हैं वह तत्ववेता मुनि के लिए रात्रि है।"

गीता का यह श्लोक स्वामीजी की चितवृत्ति पर सम्पूर्ण रूप से लागू पड़ता है। दुनिया जन्म-मृत्यु में हर्ष-शोक मनाती है। स्वामीजी आत्मा को अमर समझ मग्न रहने का उपदेश करते हैं। 'त्यांरी लागी मुक्ति सूं ताली'—वे कहते हैं ज्ञानी की धुन मोक्ष में लगी होती है।

'रह्या धर्म शुक्ल ध्यान ध्याई'—वे धर्म शुक्ल ध्यान में रत रहते हैं। दुनिया हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह बिना अपना गुजर नहीं देखती। स्वामीजी ने इनके सर्वथा और युगपत् त्याग की आवश्यकता बतलायी है। आन्तरिक मुमुक्षुभाव और आध्यात्मिकता बिना—यह सत्य दृष्टि संभव नहीं।

: ८ :

महान् कवि

हम पूर्व में एक जगह कह आए हैं कि स्वामीजी ने मारवाड़ो भाषा में अनेक महत्वपूर्ण कृतियाँ छोड़ी हैं, जो जैन साहित्य की अमर कृतियाँ कही जा सकती हैं। उनकी अधिकांश रचनाएँ ढालों—संगीतपूर्ण कविता में हैं। गद्य में भी उन्होंने जो थोड़ा लिखा है, वह कई दृष्टियोंसे बड़ा महत्वपूर्ण है। स्वामीजी में कवित्व शक्ति एक सहज संस्कार था। उनके शब्दों में मिठास और अपूर्व भाव-अभिव्यक्ति है। भावों में मौलिकता और चमत्कार ठसाठस भरे हैं। उनके शब्द नपे-तुले और रचनाएँ चुस्त हैं। उनमें शब्द परिवर्तन की गुंजाइश नहीं। मारवाड़ी भाषाके मुहावरे जगह-जगह दृष्टिगोचर होते हैं। स्वामीजी में हेतु (कथा, दृष्टान्त) देने की शक्ति बड़ी विचक्षण थी। उनकी रचनाएं मौलिक दृष्टान्तोंसे भरी पड़ी हैं। स्वामीजी एक लोक-कवि थे और उंचे दर्जेके संगोतज्ञ भी। वे गायक कवि थे। उनकी रचनाएं मारवाड़ी भाषा की classical लोक-प्रचलित रागिनियों में हैं। आप उन्हें पढ़ते जाइए और वे याद होती जाती हैं। कवि की भावुकता और ऊंचे दर्जे की दार्शनिकता आप को जगह-जगह आनन्द विभोर कर देगी। स्वामीजो की कविताओं के पीछे गहरी आगम-दृष्टि और जीवन-व्यापो अनुभव मिलेगा। जैन धर्मके प्रति अगाध श्रद्धा और उसके उद्धारके लिए उनके हृदय में रही हुई गहरी तमन्ना जगह-जगह दृष्टि गोचर होती है।

स्वामीजी एक महान् आध्यात्मिक कवि थे। उनकी कवित्व-प्रतिभा बड़ी अद्भुत थी। कविता बनानेके लिए उन्हें परिश्रम करने की जरूरत नहीं पड़ती। हिमालय की चट्टानोंसे जैसे कलकल करती हुई गंगा बहती है, वैसे ही उनके मुखसे कविता सहज झंकार और द्रुतगतिके साथ प्रवाहित होती। वे बात की बात में कविता

बना डालते। जैसे हम भाषा में बोलते हैं वैसे ही वे सहज स्वभावसे कविता में बोल सकते। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जो उनकी शीघ्र कवित्व शक्ति का प्रदर्शन कराते हैं। हम दो एक उदाहरण यहाँ देते हैं।

एक बार आगरिया गाँव में प्रतापजी कोठारीने आश्चर्य कर पूछा : "आप इतनो जोड़ (पद्य-रचना) कैसे करते हैं ?" स्वामीजीके समीप एक छोटी-सी टोकसो रक्खी हुई थी, जिसके ऊपर का कपड़ा उड़ गया । स्वामीजी ने पद बनाया :

"नान्ही-सी या टोकसी
इणरे माँय पड़्यो सपेतो रे
यत्न घणा कर राखज्यो
नहीं तर मांय पडेली रेतो रे"

पद कह कर स्वामीजी बोले : "हम इसी प्रकार जोड़ें—रचना करते हैं।" स्वामीजी ने क्षण मात्र में कितना उपदेशपूर्ण पद बना दिया।

एक और भी ऐसी ही घटना है, जिससे स्वामीजी को आशु कवित्व शक्ति का परिचय मिलेगा। सिरियारी में मुस्सदी विजयसिंहजी ने स्वामीजी के दर्शन किए। संसार आदि अनादिके सम्बन्ध में प्रश्न करने पर स्वामीजी ने 'मोर-अण्डा, एरण-हथौड़ा बाप बेटा आदि के दृष्टान्त दे बहुत ही सुन्दर ढंगसे उन्हें समझाया। उत्तर सुन मुस्सदीजी बोले : "आपकी बुद्धि बहुत देशों को परोटे(उन पर राज्य करे) ऐसी है।" स्वामीजी ने निम्न लिखित पद जोड़ कर वापिस जवाब दिया:

"बुद्धि वाही सराहिए
जो सेवे जिन-धर्म
वा बुद्धि किण कामरी
जो पड़िया बांधे कर्म"

"उस राजबुद्धि से क्या प्रयोजन जिससे सिर्फ कर्मों का ही बन्ध होता है। वही बुद्धि सराहनीय है, जिससे जिन-धर्म सेवित है।" जैन-धर्मके प्रति अगाध प्रेम और कविता की आशुप्रज्ञा—स्वामीजी की इन दोनों विशेषताओं के दर्शन इस अमर पद में एक ही साथ होते हैं। स्वामीजी की बुद्धि की तीक्ष्णता और अद्भुत मति और श्रुतज्ञान के तो सभी कायल थे।

स्वामीजीने छोटी-छोटी कृतियोंके साथ-साथ बड़ी-बड़ी कृतियाँ भी दी हैं और सब में उनकी कवित्व शक्ति समान ओज के साथ प्रगट हुई है। संगीत पूर्ण ढालों के साथ चुम्बक दोहे और सोरठे चमत्कार सा पैदा करते हैं।

संसार एक द्वन्द्व है। इसमें बड़ी विचित्रता है। ऊपर आकाश है और नीचे पाताल। एक ओर गगन भेदी पर्वत हैं और दूसरी ओर पाताल भेदी समुद्र। ऐसी विरोधी विचित्रता मनुष्य के जीवन में भी है। इस विचित्रता और उसके कारण का बड़ा ही गंभीर और तलस्पर्शी वर्णन स्वामीजी ने चन्द सोरठों में किया है। हम इन सोरठों को यहां देते हैं:

एक नर पंडित प्रवीण रे, एक ने आखर ना चढ़ै
एक नर मूर्ख दीन रे, भाग बिना भटकत फिरे
एकण रे भरिया भंडार रे, ऋद्ध सम्पत घर में घणी
एकण रे नहीं लिगार रे, दीधा सोइ पाइए
एकण रे आभूषण अनेक रे, गहणा विविध प्रकार ना
एकण रे नहीं एक रे, वस्त्र बिना नागो फिरे
एक नर जीमै कूर रे, सीरो पूरी लापसी
एकण रे नहीं बूर रे, भीख मांगत भटकत फिरे
एक नर पोढै खाट रे, सेज बिछाई ऊपरै
एक नर हूंढै हाट रे, आदर मान किहां नहीं

एक नर हय असवार रे, चढै हस्ती ने पालखी
एकण रे सिर भार रे, गांव गांव भटकत फिरै
एकण रे रहै हजूर रे, हाथ जोड़ हाजर रहै
एक नर ने करै दूर रे, निजर मेलै नहीं तेहस्यूं
एक नर सुन्दर रूप रे, गमतो लागै सकल नै
एकज कालो कुरूप रे, गमतो न लागै केहने
एक बालक विधवा नार रे, रात दिवस झूरै घणी
एक सझ सोलै शिणगार रे, रुत २ ना फल भोग
एक नर छत्र धराय रे, आण मनावै देश में
एक नर अलाणै पाय रे, फिरै घर-घर टुकड़ा मांगतो
एक बैस सिंघासण पाट रे, हुक्म चलावै लोक में
एक फिरेज हाटो हाट रे,, एक कोडी रे कारणै
एक नर निरमल देह रे, एक ने रोग पीड़ा घणी
किसो कीजै अहमेव रे, किया सोई पाइए
एक सारै निज काज रे, संजम मारग आदरै
एकज विलसै राज रे, काज बिगाड़ै आपणो
एक रमै नर नार रे, मद मांस तणों भक्षण करै
त्यांरै दया न दिसै लिगार रे, ते सुख पावै किण विधै
एक नर पालै शील रे, साध तणी सेवा करै
पामै अविचल लील रे, मोख तणा सुख सासता
निरफल रूँखज होय रे, निरफल होय ज्यावै असतरी
सुणज्यो भवियण लोय रे, करणी कदै निरफल नहीं

"मनुष्य करता है वैसा ही पाता है। रूंख—वृक्ष निष्फल हो सकता है, स्त्री निष्फल हो सकती है, पर हे भविजन! करणी—धर्म-क्रिया कभी निष्फल नहीं हो सकती।"

कवि ने एक निश्चल सत्य को कितने सुन्दर ढग से बीणाबद्ध कर दिया है। वृक्ष और स्त्री का निष्फल होना देखा जाता है पर करणी कभी निष्फल नहीं जाती— यही कारण है कि जगत् में इतनी विचित्रता है। प्रत्येक सोरठे में एक ओर हद दर्जे की भाग्यशीलता और दूसरी ओर हद दर्जे की भाग्यहीनता के उदाहरण फौज के मार्च (March) के समय समानान्तर से ऊपर उठते और नीचे गिरते दायें बाएं पैर की हलचल का दृश्य उपस्थित कर देते हैं। कवि की प्रौढ़ कल्पनाशक्ति सुन्दर शब्दों के अलंकारों से विभूषित हो, एक अनूठे वैभव के साथ नृत्य करती है। कवि एक अनोखी भाव तन्मयता में कहता है : "संसार में क्रिया की विचित्रता प्रगट देखी जाती है फिर कार्य की विचित्रता क्यों नहीं होगी? एक संयम-मार्ग को ग्रहण करता और दूसरा राज-सुखों में विलास करता है; फिर क्यों नहीं एक अपना कार्य सिद्ध करेगा और दूसरा अपना कार्य बिगाड़ेगा? एक मनुष्य नारियों में लीला करता है और मद मांस का भक्षण कर निर्दयता का परिचय देता है। दूसरा मनुष्य शील—ब्रह्मचर्य का पालन करता है और साधुओं की सेवा करता है। फिर पहले पुरुष को क्यों सुख होगा और क्यों नहीं दूसरा मनुष्य मोक्ष के शाश्वत सुखोंमें अविचल लीला करेगा?" कितनी सुन्दर दलील है। सत्कर्मोंके लिए एक सजीव प्रेरणा नदी की धारा की तरह हृदय प्रांगण में दौड़ने लगती है। सरल भाषा में गंभीर ज्ञान यह लोक कवि का लक्षण है। स्वामीजी खरे अर्थ में एक ज्ञानी कवि थे। वे एक ओजस्वी सुधारवादी लोक कवि थे।

सोरठों की तरह स्वामीजी के दोहे भी बड़े ही सरस और उपदेश पूर्ण हैं। 'शील की नववाड़'-ब्रह्मचर्य विषय का एक सुन्दर काव्य है। कवि की काव्य-कौमुदी इस रचना में अपनी सम्पूर्ण छटा के साथ प्रसारित हुई है। रचना में सर्वत्र एक समान भावप्रवणता और सौष्ठव नजर आता है। इस रचना के दोहों को कण्ठस्थ कर उनका पाठ करते रहने से ब्रह्मचर्य पालन में सिद्ध-कवच का सा सहारा

मिलता है। इस रचना को हम ब्रह्मचर्य का सिद्धि-यंत्र कह सकते हैं। स्थानाभाव से हम यहाँ केवल दोहों का ही संग्रह देते हैं।

हिवे कहुं छुं जुई जुई, शील तणी नव बाड़
दशमो कोट तो चिहुं दिशा, मांहि ब्रह्मचर्य विस्तार
खेत गांव ने गौरवें, न रहे न कीधा बाड़
रहसी तो खेत इण विधे, दोली कीधां बाड़
ब्रह्मचारी विचरे जठे, ठांम ठांम छे नार
तिन कारण इण शील री, वीर कही नव बाड़
बाड़ न लोपे तेहनो, रहे व्रत अभङ्ग
वयरागी विरकत थया, दिन २ चढ़ते रङ्ग
पहली बाड़ में इम कह्यो, नारि रहे तिहां रात
तिण ठांमे रहणो नहीं, रह्यां व्रत तणी हुवे घात
अथवा नारी एकली, भली न संग तास
धर्मकथा कहनी नहीं, बेसी तिण रे पास
तिण थी अवगुण ऊपजै, शंका पामे लोक
आवे झूठो आल सिर, बले होवे व्रत नो फोक
कथा न कहनी नार नी, ते जिन कही दूजी बाड़
नारी कथा कहे तेहसुं, व्रत रो हुवे बिगाड़
जे झील रहयां ब्रह्म व्रत में, तिणरे विषै नहीं मन माहि
ते ब्रह्मचारी ने नारी कथा, करवो शोभे नाहि
तीजी बाड़ में इम कह्यो, ब्रह्मचारी नारी सहीत
एकण सिज्या नहीं बैसणो, या जिन मारगरी रीत
अगन कुंड पासे रहे, तो पिघलै घृतनो कुम्भ
ज्युं नारी सङ्गत पुरुष नो, रहे किसी पर ब्रह्म

ब्रह्मचारी योगी यती, मत कर नारि प्रसङ्ग
एकण सिज्या बैसतां, होवे व्रतनो भङ्ग
पावक गाले लोह ने, जो रहे पावक सङ्ग
ज्युं एकण सिज्या बैसतां, न रहे व्रत स्युं रङ्ग
नारी रूप नहीं निरखणो, या जिन कही चौथी बाड़
शुद्ध मने जे पालसी, त्यां सफल कियो अवतार
चित्र लिखित जे पूतली, ते पिण जोयवी नांहि
केवल ज्ञानी इम कह्यो, दशवैकालिक मांहि
भींत परेच टाट आंतरे, तिहां रहता हुवे नर नार
तिहां ब्रह्मचारी ने रेहवो नहीं, ए जिन कही पांचमी बाड़
संजोगी पासे रहे, ब्रह्मचारी दिन रात
ते तणा शब्द सांभल्या, हुवे व्रत नी घात
छठी बाड़ में इम कह्यो, चञ्चल मन मति डिगाय
खाधो पीधो विलसियो, ते मती याद अणाय
मन गमता भोग भोगव्या, ते याद कियां गुण नांहि
बाड़ भांग्या व्रत खै हुवै, बले अजस हुवे लोग मांहि
नित २ अति सरस आहार नें, बरज्यो सातमी बाड़
ते ब्रह्मचारी नित भोगवे, तो व्रत रो हुवे बिगाड़
घृतादिक स्युं पूरण भर्‌यो, एहवो भारी आहार
ते धातु दीपावै अति घणो, तिण स्यूं बधे विकार
खाटो खारो चरपरो, मीठो भोजन जेह
विविधपने रस नीपजै, ते रसना सर्व रस लेह

जेहनी रसना बस नहीं ते खावे सरस आहार
व्रत भांग भागल हुवे, खोवे ब्रह्मव्रत सार
आठमी बाड़ में इम कह्यो, चांप न करणो आहार
प्रमाण लोप अधिको करे, तो व्रत रो हुवे बिगाड़
अति आहार थी दुःख हुवे, गले रूप बल आय
प्रमाद निद्रा आलस हुवे, बले अनेक रोग होय जाय
अति आहार थी विषे बधे, घणोइज फाटे पेट
धान अमाऊ ऊरतां, हांडी फूटे नेट
नवमी बाड़ ब्रह्मचर्य नी, विभूषा न करणी अङ्ग
विभूषा कीधां थकां, थाये व्रत नो भङ्ग
शरीर विभूषा जे करे, ते संजोगी होय
ब्रह्मचारी तन न सोभवै, ते कल्पे नवि कोय
नवमी बाड़ कही ब्रह्मचर्य नी, हिव दसमों कहूं कोट
ते बाड़ दोली बींटी रह्यो, तिण में मूल न चाले खोट
कोट भांग्यां जोखम है बाड़ ने, बाड़ भांग्यां व्रत ने जाण
तिणस्युं कोट डिगण देवे नहीं, ते डाह्यो चतुर सुजान
सहर कोट सेंठो हुवे तरे, चिंता न पामे लोक
ज्युं अडग कोट ब्रह्मचर्य नो, तो शोल न पामे दोक

नव बाड़ के बाद दसवां कोट है—"शब्द रूप गन्ध रस फास, भला-भुण्डा, हलका भारी, सरस। त्यांसूं राग द्वेष करणो नहीं, शील रहसो एहवा कोट मांहि।"

स्वामीजी कहते हैं: "खेत गांव की सीमा पर होता है तो बाड़ किए बिना उसकी रक्षा नहीं हो सकती। बाड़ के बाद भी खाई करनी पड़ती है। इसी प्रकार ब्रह्मचारी जहां विहार करते हैं वहां जगह-जगह स्त्रियाँ रहती हैं इसलिए ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए बाड़ रूपी नौ नियम और कोट—खाई—रूप दसवें नियम का

पालन करना जरूरी होता है। ब्रह्मचर्य के इन दस समाधि-स्थानों का जो लोप नहीं करता उसका व्रत अखण्डित रहता है और वह दिन-दिन चढते रङ्ग से वैरागी रहता है।" 'ब्रह्मचारी योगी यती, मत कर नारी प्रसंग'—में कितना गंभीर उपदेश समाया हुआ है! 'पावक के साथ रहने से जैसे पावक लोहे को गला डालता है, उसी तरह एक शय्या पर बैठने से 'न रहे व्रत से रङ्ग'—व्रत में दृढ़ता नहीं रहती —कितने सावधान करते हैं ये शब्द! कठोर से कठोर हृदय के लिए भी एकासन पर बैठने में कितना खतरा रहा हुआ है, यह एक सुन्दर उदाहरण से बता दिया है। जो 'नारी-रूप नहीं निरखता वह मनुष्य नर जन्म को सफल-सार्थक करता है'—कितने सचोट वचन हैं! 'संयोगी'—शब्द कवि की अनोखी सृजन शक्ति का परिचय देता है और साथ ही बड़ा भावोत्पादक है। 'चंचल मन मति डिगाय।" 'खाधो पिधो विलसियो तेमति याद अगाय'-छट्ठी बाड़ की यह शब्द योजना कितनी सुन्दर और भावपूर्ण है! 'धातु दिपावे'-'सरस आहार धातु को दीप्त करता है'। सरस आहार से मीठे और स्निग्ध आहार का ही अर्थ लिया जाता है परन्तु 'खाटो खारो चरपरो मीठो भोजन जेह। विविधपने रस निपजै ते रसना सब रस लेह' — इस में स्वामीजी ने बतलाया है कि इन सर्व रसों में जिसकी 'रसना वश नहीं' वह 'व्रत भांग भागल हुवे खोवे ब्रह्म व्रत सार'—व्रत भांग कर भागल हो जाता है और मूल्यवान ब्रह्मचर्य व्रत को खो डालता है'। अति आहार से 'गलै रूप बल आय' —'रूप, बल और आयुष्य क्षीण होती है—कितना सुन्दर बना है! जैसे हाँडो में 'अमाऊ ऊरतां'—शक्ति उपरांत अन्न डालने से अन्न उबाल में आने पर हांडो फूट जाती है उसी तरह अधिक आहार से पेट फटने लगता है और विकार, प्रमाद, रोग, निद्रा, आलस और वषय विकार की वृद्धि हो कर ब्रह्मचर्य का नाश हो जाता है। यह दृष्टान्त कितना मौलिक और रोजमर्रा के जीवन से लिया हुआ होने से कितना सरस और हृदयग्राही है! भाषा कितनी बहती हुई और शब्द योजना कितनी सुन्दर है!

ब्रह्मचर्य पालन के लिए कवि ने अन्यत्र इस प्रकार अपील की है :

सुण्या तणो ओही सार रे, शील पालै नर जे सदा
पामै भव तणो पार रे, इण बात में शंका नहीं
ऐसो शील निधान रे, भव जीवां हितकर आदरों
ते निशचै जासी निर्वाण रे, देवलोक में सांसो नहीं
षट् दर्शण रे मांह रे, शील अधिको बखाणियो
तप जप ए सहु जाय रे, शील बिना एक पलक में
किताएक कीजै बखाण रे, शील व्रत में गुण घणा
जोवो सूत्र पुराण रे, शील सारा बरतां सिरै

चन्द शब्दों मे शील की महिमा—विशेषता कितने सुन्दर ढंग से दिखा दी है। 'शील षट् दंशन की सामान्य वस्तु और सूत्र पुरान का सार है'। 'तप जप ए सहु जाय रे, शील बिना एक पलक में', 'शील सारा व्रतां सिरे', 'ऐसो शील निधान रे भव जोवां हित कर आदरो'–आदि कवि की आत्मा को उडेल कर एक गहरी सजीवता उत्पन्न कर देते हैं।

उपसर्ग—विघ्न विपदा के समय ब्रह्मचारी का क्या कर्तव्य है—इस पर बड़े सुन्दर दोहे स्वामीजी ने दिये हैं :—

मन गमतो परिसो स्त्री तणो, सहणो घणो दुलभ।
मन दृढ परणामां पुरुषां ने, सहणो घणो सुलभ॥
गमतो अणगमतो हुवै, उपसर्ग उपजे आय।
सूर पुरुष सामां मंडे, कायर भागी जाय॥
समदृष्टि विवश हुवै, पालै व्रत अभङ्ग।
ज्यूं-ज्यूं परिषा उपजै, तिम-तिम चढते रङ्ग॥
बेरी ते लारै पड़्यां, भाग्यां भलो न होय।
पग रोपी सामो मंडै, तो गंज न सकै कोय॥

जैसो गोलो मेण रो, तप लाग्यां गल जाय
कायर पुरुष स्त्री कन्हें, तुरत डिगे छिण माँय
जैसो गोलो गारको ज्यूं धमे ज्यूं लाल
ज्यूं शूर पुरुष स्त्री कन्हें अडिग रहे व्रत भाल

"स्त्री का विघ्न अनुकूल—मनको रुचिकर होता है, अतः उसको सहना उसका पार पाना अत्यन्त कठिन होता है, परन्तु जो पुरुष दृढ़ मनवाले—दृढ़ परिणामों वाले होते हैं, उनके लिये तो यह अत्यन्त सरल बात है।

"अनकूल या प्रतिकूल उपसर्ग-संकट आ पड़ने पर शूर पुरुष सम्मुख मंड जाते—भूझने लगते हैं और कायर पीठ दिखा कर भग जाते हैं।

"समदृष्टि जब संकटों से विवश हो जाता है तो व्रतों का अभंग रूप से पालन करता है। जैसे जैसे परिषह बढते हैं वैसे-वैसे चढते अनुराग से वह व्रतों की रक्षा करता है।

"बैरी जब पीछे पड़ जाता है - तब पीठ दिखा कर भगने से भला नहीं होता। बैरी के सम्मुख पग रोप कर मंड जाने से प्राण चले जाने पैर भी, कोई गंजता नहीं-हल्की बात नहीं कहता।"

धर्म मार्ग में भी शूरवीरता की कितनी आवश्यकता है— यह स्वामीजी ने उपरोक्त पदों में बताया है। 'प्राण भले ही चले जांय धर्म न जाय'-इस दृढ़ भावना का बीजारोपण उपरोक्त पदों में है। स्वामीजी ने कहा है "कष्ट पड्यां कायम रहै, ते साचेला शूर"—जो कष्ट पड़ने पर कायम रहते हैं वे ही सच्चे शूर हैं। जसे मोम का गोला ताप लगने से गल जाता है, उसी तरह कायर पुरुष स्त्रीके सम्मुख क्षण मात्रमें डिग जाता है। पर गार का गोला जैसे-जैसे धमाया जाता है, लाल होता जाता है। उसी तरह शूर पुरुष अपने व्रत को निभाता हुआ स्त्री के सम्मुख अडिग रहता है।

'कालवादी की चौपाई'—स्वामीजो की एक बड़ी ही उत्तम काव्य-रचना है। इसे पढ़ने से ऐसा लगता है, जैसे स्वामीजी कोई ज्ञानके उद्यान थे। ज्ञान की अद्भुत छटा, सूत्रों का अद्भुत दोहन, अद्भुत गंभीर गिरा—शीतल मलय मरुत की शान्ति पहुंचाते हैं। स्वामीजी का 'तत्वज्ञान' इस रचना में पूरा-पूरा प्रगट हुआ है। इसके कुछ नमूने देखिए:—

किण ही दो जणां चारित साथे लियो
समकाले छोड़्या प्राण हो। भविकजन
काल सरीखो दोन्यांरा चारित्र तणो
पिण चारित्र गुण में फोर जाण हो॥ भविकजन
चारित्र तो जघन्य मध्यम उत्कृष्टो होय हो
ते तो चेतन गुण पर्याय हो। भविकजन
ते चारितावरणी कर्म दूरा हुवां
निज गुण प्रगट थाय हो॥ भविकजन
चारितावरणी चारत ने बिगाड़ियो
ओ बिगड़ियो निज गुण जाण हो। भविकजन
पर गुण आडो कर्म आवै नहीं
इणरी पिण करज्यो पिछाण हो॥ भविकजन

अर्थात्—"दो आदमी एक साथ चारित्र ग्रहण करते हैं और एक ही साथ प्राण छोड़ते हैं। इस प्रकार दोनों के चारित्र का काल तो समान होता है, पर चारित्र गुण में फेर हो सकता है। चारित्र न्यून, मध्यम और उत्कृष्ट होता है और वह जीव के चेतन गुण की पर्याय—उसकी अवस्था विशेष है। चारित्रावरणी कर्मके दूर होने से जितना २ निज गुण प्रगट होता है—चेतन का जितना-जितना स्फुरण होता है, वही चारित्र है।

"चारित्रावरणी कर्म चारित्र को बिगाड़ता है; जो बिगड़ता है—वह आत्मा का निजगुण—उसका चेतन भाव है। कर्म परगुण आत्मा के सिवा अन्य के गुण को नहीं ढंकता। इसको अच्छी तरह पहिचानो।"

स्वामीजी के ये पद कितने चमत्कारिक हैं—यह पाठक स्वयं अनुभव करें। " परगुण आडो कर्म आवै नहीं"—यह कितना गूढ़ और अर्थ-गौरव-गंभीर है। यह एक आध्यात्मिक कवि की आत्मा ही अच्छी तरह समझ सकती है।

एक और उद्धरण इसी कृत्ति से हम देते हैं :

निज गुण फिरे ने पर गुण झर पड़े,
ते पर गुण पुद्गल जाण हो। भविकजन
पर गुण झरियां निज गुण हुवै निर्मलो,
आ श्रद्धा घट में आण हो॥ भविकजन
अशुद्ध निज गुण फिरियां सुध निज गुण हुवै,
ते पर गुण कर दे दूर हो। भविकजन
शुद्ध निज गुण फिरियां अशुद्ध निज गुण हुवे,
तिण सूं पर गुण लागे पूर हो॥ भविकजन
जे मैला निज गुण मोह कर्म बसे,
त्यां निज गुणा स्युं पाप बंधाय हो। भविकजन
मोह रहित निज गुण हुवै निर्मला,
त्यां सूं परगुण दूर पलाय हो॥ भविकजन
सात कर्म सूं निज गुण मेला हुवे,
त्यां सूं पाप न लागे ताम हो। भविकजन
ते करम झर्यां हुवे निज गुण निर्मला,
त्यांरा गुणा निरन छे नाम हो॥ भविकजन

आठ कर्म उदय हुवा नीपजै
निज गुण उदय भाव अनेक हो। भविकजन
आठ कर्मां ने क्षय कीधाँ नीपना
निज गुण क्षायक भाव विशेष हो॥ भविकजन
च्यार कर्म क्षय उपसम कीयाँ नीपजै
निज गुण क्षय उपसम भाव हो। भविकजन
मोह कर्म उपसमियां प्रगटे,
निज गुण उपसम भाव हो॥ भविकजन
ये च्यारूं ही भाव परिणामिक जीव छे,
ते चेतन निज गुण पर्याय हो। भविकजन
ए भाव फिरे पिण द्रव्य फिरे नहीं,
ते पिण सुणज्यो न्याय हो। भविकजन
तत्त्व शुद्ध सरध्यां हुवे जीव समकिती,
ऊंधा सरध्यां मिथ्याती थाय हो। भविकजन
ओहिज ज्ञानी रो अज्ञानी हुवे
अज्ञानी रो ज्ञानी हो जाय हो॥ भविकजन
नारकी ने देवता रो मिनख तिर्यंच हुवे
मिनख तिर्यंचनो देव थाय हो। भविकजन
इत्यादिक जीवरा भाव अनेक छै,
ते और रो और होय जाय हो॥ भविकजन
सासतो जीव द्रव्य छे अनाद रो,
तिणरी प्रज्या अनंत जाण हो। भविकजन
ते प्रज्या हाण विरध हुये कर्म सूं
पिण द्रव्यरी नहीं विरध हाण हो॥ भविकजन

जे भाव फिरे पिण द्रव्य फिरे नहीं,
त्यां भावांरा भेद अनेक हो। भविकजन
ते भाव निश्चै ही जाणो असासता
ते सरधो आण विवेक हो॥ भविकजन
द्रवे सासतो ने भावे असासतो।
जीव ने कह्यो जिण राय हो। भविकजन
ते सूत्र भगोती रे सत खंध सात में
दूजा उदेशा मांहि हो॥ भविकजन
भावे जीवने कह्यो असासतो
ते तो प्रज्या पलटे जाण हो। भविकजन
द्रवे जीवने सासतो कह्यो
जीवरो अजीव न थाय हो॥ भविकजन

अर्थात्: "निज गुण की स्फुर्णा होने से परगुण—आत्म-प्रदेशों से झड़ते हैं। ये परगुण और कुछ नहीं पुद्‌गल कर्म हैं। परगुण के दूर होने से निजगुण निर्मल होते हैं। यह श्रद्धा हमेशा घट में रखो।

"अशुद्ध निजगुणों के हटने से निजगुण शुद्ध हो जाते हैं और निजगुण परगुण—पुद्‌गल को आत्म-प्रदेशों से दूर कर देते हैं। शुद्ध निजगुण के पलटने से निजगुण अशुद्ध हो जाते हैं जिससे परगुण प्रचुर मात्रा में लगते हैं।

"मोह कर्म के उदय से जो मेले निजगुण हैं उनसे पाप कर्म का बंध होता है। मोह रहित अवस्था में निजगुण निर्मल हो जाते हैं, जिससे परगुण पलायमान हो जाते हैं।

"सात कर्म से निजगुण मेले होते हैं, पर उनसे पाप नहीं लगता। मोह कर्म से पाप लगते हैं। इन सात कर्म के झड़ने से निजगुण निर्मल होते हैं। सातों ही कर्मों के नाम उनके गुणों के द्योतक हैं।

"आठ कर्मों के उदय से अनेक निजगुण रूपी भावों का उदय होता है और उनके क्षय से क्षायक भावों की उत्पत्ति होती है।

"चार कर्मों के क्षय-उपसम से निजगुण रूपी क्षय-उपसम भावों का उदय होता है। मोह कर्म के उपसम से निजगुण रूपी उपसम भाव होता है

"ये चारों ही भाव—उदय, उपसम, क्षायक, क्षयोपसम—परिणामिक हैं; वे जीव के परिणाम हैं। चैतन्य भाव जीव का निजगुण है और ये उसी की पर्याय हैं। ये भाव जीव फिर जाते हैं पर द्रव्य जीव फिरते नहीं। उसका भी न्याय सुनो।

"तत्वों को शुद्ध समझने से जीव सम्यक्त्वी होता है, उलटा श्रद्धने पर वही जीव मिथ्यात्वी हो जाता है। यही जीव ज्ञानी का अज्ञानी हो जाता है और अज्ञानी का ज्ञानी।

"नारकी और देवता का जीव मनुष्य और तिर्यञ्च हो जाता है और मनुष्य तिर्यञ्च का जीव देव हो जाता है। ऐसे ही जीव के अनेक भाव हैं। वह कुछ-का कुछ हो जाता है।

"जीव अनादि और शाश्वत द्रव्य है। उसकी पर्यायें अनन्त हैं। कर्म के संयोग से इन पर्यायों की हानि-वृद्धि होती है परन्तु द्रव्य की हानि वृद्धि नहीं होती।

"जीव के भाव—पर्यायें फिरती हैं पर द्रव्य नहीं फिरता। इन भावों के अनेक भेद हैं। ये भाव निश्चय ही अशाश्वत हैं। विवेक पूर्वक इस बात पर श्रद्धा लाओ।"

"जीव द्रव्यतः शाश्वत है और भावतः अशाश्वत है। ऐसा जिन-भगवान ने भगवती सूत्र के ७ वें श्रुतस्कंध में कहा है। भाव जीव को अशाश्वत इस कारण कहा है कि उसकी पर्याय पलटती रहती है और द्रव्य जीव को शाश्वत इसलिए कहा है कि जीव कभी अजीव नहीं होता।"

द्रव्य जीव और भाव जीव का कितना सुन्दर बोध इस ढाल में भरा हुआ है! निजगुणों के निर्मल होने से 'परगुण दूर पलाय हो' कितना सुन्दर बना है! 'ते प्रज्या हाण विरध हुवे कर्म सूं, पिण द्रव्य की नहीं हाण विरध हो' इस एक पद

में 'उत्पाद व्यय ध्रौव्य' के सिद्धान्त का सार भर दिया है। चेतन जीव, जड़ पुद्गल को कैसे ग्रहण करता है—इसका गंभीर विवेचन उपरोक्त अवतरण में है। स्वामीजी की रचनाएँ इसी तरह अद्भुत आत्मज्ञान से भरी हुई हैं।

एक ढाल में कुगुरु-संगत का दुष्परिणाम बतलाते हुए आरम्भ के दोहे में कहा गया है : "ताल पुट विष को खाने से उसी समय जीवन का अंत हो जाता है परन्तु यदि कोई कुगुरु को गुरु कर लेता है तो अनेक जन्म जन्मान्तर तक चारों गतियों में भ्रमण करता है।" इस ढाल में कुगुरु पर एक बड़ा सुन्दर दृष्टान्त हैं। पाठक इसका रसास्वादन करें :

जाजम बिछाई कुवा ऊपरे
चिहुं काने रे मेल्या ऊपर भार।
भोले बेसे तिण ऊपरे
ते डूबे मरे रे तिण कुवा मझार॥
तिम कुगुरु छं कुवा सारीखा
जाजम सम रे कने साधू रो भेष।
त्यांने गुरु लेखव बंधणा करे
ते डूबे रे मूरख अंध अदेख॥
कुगुरु भड़भुंजा सारखा
त्यांरी श्रद्धा हो खोटी भाड़ समान।
भारी कर्मां जीव तिणखा सारखा
त्यांने झोखे हो खोटी सरधा में आण॥

अर्थात : "एक जाजम के चारों कोनों पर भार रख, यदि एक कुवे को ढक दिया जाय और उस पर कोई मूर्ख आ बेठे तो वह डूब मरेगा या नहीं? कुगुरु कुए के सदृश हैं। उनके पास साधुओंका वेष है, वह जाजम की तरह है। उनके वेष को

देख, जो उन्हें सच्चा गुरु समझ वन्दना करता है वह स्थिति को नहीं देखनेवाला मूर्ख और अन्ध पुरुष भवभव में डूबता है।"

स्वामीजी का कुगुरु पर यह दृष्टान्त कितना सुन्दर और मौलिक है! वेष से कोई साधु नहीं होता, गुण से होता है। जाजम से ढका हुआ कुवा भी कुवा ही रहेगा। उस पर बैठने वाले की मृत्यु होगी। उसी तरह कुगुरु को संगत करने वाला डूब मरेगा। सत्संगति की ओर मोड़ने वाला यह दृष्टान्त कितना उद्बोधक है, यह पाठक स्वयं ही अनुभव करते होंगे।

कुगुरु पर दूसरा दृष्टान्त भड़भूंजे का है। जो राजस्तान के ग्रामीण-जीवन से परिचित हैं, उन्हें यह दृष्टान्त बड़ा ही फबता लगेगा।

"कुगुरु भड़भूंजे के सामान हैं और उसको श्रद्धा भाड़ के समान खोटी है। कर्मों से भारी हुए जीव घास-फूस के समान हैं जिनको कि कुगुरु खोटी श्रद्धा रूपी भाड़ में झोंका करते हैं।"

'बारह व्रत की चौपाई' भी गीतिकाव्य का उत्कृष्ट नमूना है। स्वामीजी ने इस रचना में श्रावक के बारह व्रतों का विवेचन इतने सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के साथ किया है कि पढने वाले को आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। इस रचना के दोहे भी बड़े सारगर्भित और अर्थ-गौरव गंभीर हैं। सरल भाषा, गम्भीर स्पष्टीकरण और वैज्ञानिक विश्लेषण शैली के कारण यह रचना इस विषय की रचनाओं में प्रमुख स्थान प्राप्त करे ऐसी है।

इस रचना के कुछ दोहे पाठकों की जानकारी के लिए नीचे देते हैं। दूसरे से पांचवें व्रत के आरंभ के दोहे इस प्रकार हैं :

दूजो व्रत श्रावक तणो, करे झूठ परिमाण।
त्यागे माठो जाण ने, पाले जिनवर आण॥
झूठा बोला मानवी, नहीं ज्यांरी परतीत।
मिनख जमारो हारने, नरकां होय फजीत॥

तीजो व्रत श्रावक तणो, करे अदत्तरा त्याग ।
मन में समता आंण ने, चोढे भाव वैराग ॥
इहलोके जस अति घणो, परलोके सुख पाय ।
भाव सहित आराधियां, जनम-मरण मिट जाय ॥
चोरी करे ते मानवी, गया जमारो हार ।
मिनख तणो भव खोयने, नरकां खावे मार ॥
मनुष्य तणो भव पाय ने, जे नर पाले शील ।
शिव रमणी बेगा बरे, करे मुक्ति में लील ॥
साधु त्यागे सर्वथा, गृहचारी पर नार ।
माठी नजर जोवे नहीं, तिणरो खेवो पार ॥
कैइक मानव एहवा, आणे मन वैराग ।
भोग जाणे विष सारखा, घर नारी दे त्याग ॥
पांचवें व्रत त्यागे परिग्रह, ते परिग्रह हो मूर्छा जाण ।
तिण सूं निरन्तर जीव रे, पाप लागे छै आण ॥
ए मोटो पाप छै परिग्रहो, तिण थी गोता खाय ।
सांसो हुवे तो देखल्यो, तीन मनोरथ मांय ॥
ए अनर्थ ज्ञानी भाखियो, नरक ले जावे ताण ।
यती मार्ग नूं भंजणो, निषेध कियो इम जाण ॥
खेत्तु वत्थु हिरण सुवर्ण तणो, धन धान वलि जाण ।
द्विपद ने चौपद तणो, कुम्भी धातु तणो प्रमाण ॥
खेत उघाड़ी भूमिका, वत्थू हाट हवेली जाण ।
रूपा ने सोना तणो, करे शक्ति सारू पचखाण ॥
सचित्त अचित्त मिश्र द्रव्य छै, यां सगलांरो करे प्रमाण ।
मूर्छा ते अभिंतर परिग्रहो, तिण सूं पाप लागे छै आण ॥

बारज परिग्रहो नवजात रो, ममता करि ग्रह्यो छे ताण।
तिण सूं यांने परिग्रह कह्यो, तिण थी पाप लागै छे आण॥

पाठक देखें कि इन दोहों में एक भी शब्द भरती का या निरर्थक नहीं। दोहों में भी एक सुन्दर सुमधुर तान है। "माठी निजर जोवे नहीं तिणरो खेवो पार," यह पद तो रात-दिन रटने जैसा है। 'झूठा बोला मानवी, नहीं ज्यांरी परतीत,' 'चोरी करे ते मानवी गया जमारो हार, 'भोग जाणे विष सारखा, घर नारी दे त्याग,' 'ते परिग्रणहो मूर्छा जाण,' 'यति मार्गनो भंजणो, नक लेजावे ताण'—आदि केवल सुन्दर उपदेश-पद ही नहीं हैं पर उनमें शांत काव्य का अमी-रस भरा पड़ा है। पढ़ने से ही भावनाएं निर्मल होती हैं और मन वैराग्य की ओर मुड़ कर, संवेग रस में झूलने लगता है। भाव और भाषा दोनों पर कवि का समान अधिकार उसके कलाकार का सुन्दर परिचय देता है।

अणुव्रत और गुणव्रत का सम्बन्ध, इस रचना के दोहों में इतने सुन्दर और स्पष्ट रूप से बतलाया गया है कि उन्हें यहां देने का लोभ संवरण नहीं होता :

पांच अणुव्रत धारतां, मोटी बांधी पाल।
छोटा री अव्रत रही, ते पाप आवे दगचाल॥
तिण अव्रत ने मेटवा भणी पहलो गुण व्रत देख।
दिशि मर्यादा मांड ने, टाले पाप विशेष॥
मांहिली अव्रत मेटवा, दूजो गुण व्रत धार।
द्रव्यादिक त्यागन करे, भोगादिक परिहार॥
जे द्रव्यादिक राखिया, जेहनी अव्रत जाण।
अर्थ दंड छूटे नहीं, अनर्थ दण्ड पचखाण॥

"पांचों व्रतों को धारण करते ही स्थूल हिंसादि पापों से विरति रूप बड़ी पाल बांध दी जाती है फिर भी सूक्ष्म हिंसादि पापों से अविरति रहने से कर्म रूपी जल बेरोक-टोक आता रहता है।

इस अविरति को मिटाने के लिए पहले गुण व्रत का विधान है। इस गुण व्रत में दिशि मर्यादा कर, उसके बाहर सूक्ष्म पापों से विशेष रूप से निवृत हुआ जाता है

मर्यादा कृत क्षेत्र में जो सूक्ष्म अविरति रह जाती है उसको मिटाने के लिए दूसरा गुणव्रत—उपभोग परिभोग परिमाण—धारण करना होता है। इस गुणव्रत में द्रव्यादिक का त्याग और भोगादिक का परिहार करना पड़ता है।

मर्यादित क्षेत्र में जो मर्यादित वस्तुओं के सेवन की छूट रख ली जाती है। वह भी अविरति है। इस अविरति को संक्षिप्त करने के लिए अनर्थ दण्ड त्याग अर्थात् बिना प्रयोजन पाप कर्म करने का त्याग किया जाता है और केवल प्रयोजन से पाप की छूट रह जाती है।"

अणुव्रत और गुणव्रतों के परस्पर सम्बन्ध का इतना हृदयग्राही विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है।

अब हम गुणव्रतों के दोहे देते हैं :

छट्ठो व्रत श्रावक तणो, करे दिशा रणो परमाण।
हिंसादिक त्यागे छऊं दिशा तणी, मन मांहि समता आण॥
सातमो व्रत श्रावक तणो, तिण में भोग उपभोगना त्याग।
गमती वस्तु त्यागे छे तेह ने, आवे अधिको वैराग॥
भोग आवे एकबार में, ते कहिए उपभोग।
बारंबार भोग आवे जीवने, तिण ने कह्यो छै परिभोग॥
उपभोग परिभोग त्याग्यां बिना, अव्रत में कह्यो भगवान।
त्यां रो त्याग करे सत्गुरु कने, ते सातमो व्रत प्रधान॥
उपभोग परिभोग काम छै, भोग महा दुःख खान।
किम्पाक फलनी दिधी उपमा, भगवत श्री वर्द्धमान॥

अर्थ ते मतलब आपरे, सावद्य करे विविध प्रकार।
अनर्थ ते मतलब बिना, पाप करता पिण डरे न मूल लिगार॥
पाप करे अर्थ अनर्थ कारणे, त्यां ने रूड़ी रीत पिछाण।
अनर्थ दण्ड छोड़णो दोहिलो, पिण अनर्थ रा करे पच्चखाण॥

अब हम शिक्षा व्रत के दोहे देते हैं :

पाँच अणुव्रत पालतां, गुणव्रत देश कहाय।
शिखा व्रत च्यांरू चौकड़ी; कहिए उपमा लाय॥
जिम देवल कलशी चढे, मुकुट मस्तक अन्त।
इम समदृष्टि जीवड़ा, शिखा व्रत पालंत॥
व्रत आठुंई पहला कह्या, जाव जीव लग जाण।
शिखा व्रत च्यांरू तणा, विविध पणे पच्चक्खाण॥
सामायक महुरत एकनी, जो करे चित्त लाय।
देशावगासी व्रत ना, जेम करे तिम थाय॥
पोसो हुवै दिन रात रो, जो ध्यावे निर्मल ध्यान।
बारमों व्रत सुध साधने, प्रतिलाभ्यां थी थाय॥
अतिथि संविभाग चौथो सिखा, ते बारमो व्रत रसाल।
समण निग्रन्थ अणगार ने, दान देवे दगचाल॥
ते फासू अचित्त ने सूझतो, कल्पै ते द्रव्य अनेक।
कल्पे ते खेतर काल में, दान दे आण विवेक॥
जो उ दान दे मुगत रे कारणे, और वंछा नहिं काय।
जब निपजै व्रत बारमो, इम भाख्यो जिन राय॥
इग्यारा व्रत बस आपरे, मन माने जब निपजाय।
बारमो व्रत शुद्ध साधने, प्रतिलाभ्यां छं थाय॥

लाखां कोडां खरचिया, जीव अनन्ती बार।
पिण दान सुपात दोहिलो, ते जीव तणो आचार॥
ए व्रत निपावा कारणे, उद्यम करे नितमेम।
भावे साधांरी भावना, हाथे दान देवा सुं प्रेम॥

एक ढाल में स्वामीजी ने व्रत भंग करने के दोष पर विचार किया है। इस ढाल के कई पद सदा ध्यान में रखने योग्य हैं। हम उन्हें यहां देते हैं :

छोटो मोटो सुंस व्रत आदरो तो,
पालज्यो रूढी रीत।
ते सुंस भांगने भिष्ट हुवा ते,
चिहुँ गत में होसी फजीत रे॥ भ०॥ *
छोटोई सुंस भांगे छै तिण में,
हवाल पड़े छै अनन्त।
तो मोटो सुंस भांगे छे तिणरो
होसी कुण विरतंत रे॥ भ०॥
हिंसा भूठ चोरी ने मैथुन परिग्रहो,
त्यांने त्यागे छै आण वेरागो।
त्यारां त्याग जाणने भांगे
तिणरो छै पूरो अभागो रे॥ भ०॥
करड़ा करड़ा सुंस किया
त्याने भांग करे चकचूर।
ते बूड़ा छै बापड़ा जीव अज्ञानी
ते पड़ गया मुगत सूं दूर रे॥ भ०॥

---

*भवियण सुंस म भांगो लिगारि
सुंस भाग्यां सुं घणी खुवारी रे।
भ० टांको भले तो अनन्त संसारी

व्रत भांग ने भागल हुवो तिण
दियो जीतव जन्म बिगाड़।
नर्का तणां पाहुणा होय बेठा
गया जमारो हार रे॥ भ०॥
सुंस तणां भागल छै त्यांने,
जक कठे नहीं होय।
दुख भोगवता नर्क में निरन्तर
त्यां सुख नो संचार नहीं कोय रे॥ भ०॥
सुंसां रो भागल संसार मांहे रुले तो
उत्कृष्टो अनन्तो काल।
ते तो नर्क निगोद में भीका खासी
तिणरो बेगो न आवे निकाल रे॥ भ०॥
इह लोग में पिण फिट फिट होवे
सुंस व्रत नो भांगण हार।
मस्तक नीचो घाले लोकां में
तिण ने सहु कोई देवे धिक्कार रे॥
लज्जा रहित निरलजा मानव
सुंस भांगता मूल न लाजे रे।
तिण ने परलोक रो परवाह नहीं दिसे
बिकार पाई गीदड़ जिम भागे रे॥
पाप करे तिण ने पापी कहीजै
पाप्यां तणी पांत मांही।
पिण सुंस भांगे ते महा पापी छै
महा पापी तणी पांत मांही रे॥

जातवंत लज्यावंत कुलवंत तिणरो,
कर्म जोगे गयो वृत भांगी।
ते परभव ने लौकिक सुं डरतो,
पाछो उठ खड़ो रहे जागी रे॥
भागल होय ने पाछा उठ्या अनन्ता
टाल्या आत्मा ना सर्न दोष।
सुंस भांग ते पाछा सन्ताप सुं
उण हिज भव पहुंता मोक्ष रे॥
सुंस भांग ने भागल भिष्ट हुवे तो
धर्म सूं होय गया रीतो।
काल कियो आलोया पडिकमियां विण,
तिण में भव-भव में होसो कुपोतो रे॥

उपरोक्त पदों में स्वामीजी ने कहा है कि हिंसादि पापों का जो आचरण करता है, वह पापी ही कहलायेगा पर जो हिंसा आदि पापों के त्याग स्वरूप अहिंसादि महाव्रतों को ग्रहण कर, उनका पालन नहीं करता वह महापापी की कोटि में आता है। सम्भव है कि कर्म योग से कभी मनुष्य अपने व्रत से गिर जायं पर जो जातिवन्त, कुलवन्त होता है वह फिर सजग हो, उठ खड़ा होता है और आत्म-सन्ताप से आत्म-शुद्धि कर, अपने मुमुक्ष भाव को जाग्रत रखता है। स्वामीजी ने वृत भंग के दुर्गतिकारक परिणामों का रोमाञ्चकारी दृश्य खींच, "प्राण जाय पर प्रण न जाहि"—की भावना का चिरस्थायी उपदेश दिया है।

विनय को भगवान महावीर ने धर्म का मूल कहा है। विनय के सम्बन्ध में स्वामीजी कहते हैं :

विनय मूल धर्म जिन कह्यो ते जाणे विरला जीव
ते सतगुरु रो विनय करे त्यां दीधी मुक्ति री नींवं

जो कुगुरु तणो विनय करे तो किम उतरे भव पार
ज्यां सुगुरु-कुगुरु नवि ओलख्या ते गया जमारो हार
कई अज्ञानी इम कहे गुरु ने बाप एक होय
भूंडा भला ते गुरु कह्या, त्यां ने नवि छोड़ना कोय
जिण आगम मांहि इम कह्यो, गुरु करणा गुण देख
खोटा गुरु ने नवि सेवणा, त्यांरी कीमत करणी विशेष
खोटो नाणो न सांतरो, एकण भोली मांय
ते भोलां रे हाथे दियो जुदो कियो किम जाय
जिणरी बुद्ध छै निर्मली ते देखे दोनां री चाल
कुगुरां ने नाके करे, साध बांदे पग भाल

'जिन भगवान ने विनय को धर्म का मूल कहा है'—ऐसा सब कोई कहते हैं पर इसके रहस्य को बिरले ही समझते हैं। भगवान के बचनों का रहस्य यह है कि जो सत्‌गुरु का विनय करता है वही मुक्ति की नींव डालता है।

जो असत् गुरु का विनय करता है वह किस तरह इस भव का पार पा सकता है? जो सत्-असत् गुरु की पहचान नहीं करता वह मनुष्य-अवतार को यों ही गवांता है। कई अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि बाप और गुरु एक समान होते हैं; अच्छा और बुरा क्या जिसे एक बार मुख से गुरु कह दिया उसे नहीं छोड़ना चाहिये।

पर यह बात न्यायोचित नहीं है, क्योंकि जिन आगम में ऐसा कहा है कि गुण देखकर गुरु करना चाहिये। कुगुरु की संगत नहीं करनी चाहिये। गुरु-अगुरु की विशेष परिक्षा करनी चाहिये।

खोटा और खरा सिक्का एक नोली में डालकर मूर्ख के हाथ में देने से वह उन्हें जुदा कैसे कर सकता है? जैसे ही एक वेष में रहने वाले साधु-असाधु की परीक्षा अज्ञानी से नहीं हो सकती।

जिसकी बुद्धि निर्मल होती है वह रुपयों को आवाज से उनकी परख करता है। उसी तरह विचक्षण पुरुष चाल—आचार-विचार—देख कर गुरु-कुगुरु का निर्णय करते हैं और इस तरह परिक्षा से कुगुरुओं को दूर कर सत्पुरुषों की चरण-सेवा करते हैं।

रुपये की परीक्षा आवाज से होती है और साधु की परिक्षा चाल से। कितना सुन्दर बोध कितने सरल दृष्टान्त से दिया है! 'चाल' शब्द कितना भावपूर्ण और अर्थ-गौरव को लिए हुए है! आचार-विचार—दर्शन-चारित्र दोनों की भावना को उपस्थित कर यह शब्द कितना अभिव्यक्तिशील हो उठा है!

इसी विषय पर विचार करते हुए एक जगह कहा है :—

नील टांच कीड़ा चुगेजी
माहि विराजे राम।
गुरु करणी रो कारण को नहिं
म्हारे दर्शन सूं हिज काम॥
चतुर नर छोड़ो कुगुरु संग
नील टांच कीड़ा चुगेजी
तिणरे दया नहीं घट मांहिं।
पापी रो मुख देखतां जी
भलो कठा सुं थाय॥
चतुर नर छोड़ो कुगुरु संग
गुण लारे पूजा कही जी
तोहि निगुण पूजता जाय।
चोड़े भूल्या मानवी जी
त्यांने किम आणीजे ठांय॥
चतुर नर छोड़ो कुगुरु संग

सोना री छुरी चोखी घणी जी
पिण पेट न मारे कोय।
ए लौकिक दृष्टान्त सांभलोजी
तूं हृदय विमासी जोय॥
चतुर नर छोड़ो कुगुरु संग
ज्यूं गुरु किया तिरवा भणी जी
ते ले जासी दुर्गति मांय।
जे भागल टूटल गुरु हुवे
त्यां ने ऊभा दीजे छिटकाय॥
चतुर नर छोड़ो कुगुरु संग

अर्थात्: "नील टांच चींटियां चुगता है परन्तु उसके हृदय में राम को विराजमान समझकर लोग उसका दर्शन करते हैं उसी तरह हमें तो गुरु के दर्शन से ही काम है, उसकी क्रिया से हमें मतलब नहीं। गुरु में दर्शन का हेतु क्रिया से नहीं आता।' लोग इस तरह की दलीलों से कुगुरुओं की सेवा करते हैं। परन्तु चतुर मनुष्यों के लिये तो कुगुरु-संग छोड़ने योग्य ही है।

"नील टांच पक्षी चींटियाँ चुगता रहता है। उसके हृदय में दया नहीं होती। ऐसे पापी प्राणी के दर्शन से भला अच्छा कैसे होगा!

"जैन धर्म में गुण होने से पूजा करने का कहा है, परन्तु ये तो निर्गुणों की पूजा करते जा रहे हैं। देखो! ये लोग प्रत्यक्ष भूले हैं। इन्हें किस प्रकार रास्ते पर लाया जाय!

"सोने की छुरी सुन्दर होने पर भी उसे कोई अपने पेट में नहीं भोंकता। इसी तरह इस लौकिक दृष्टान्त के आधार पर हृदय में विचार कर देखो कि दुर्गति प्राप्त कराने वाले वेषधारी गुरु का आदर कैसे किया जा सकता है?

"गुरु तिरने के लिए किया जाता है पर कुगुरु तो दुर्गति में ले जाता है। जो

भ्रष्ट—आचार-विचार से गिरे हुए—गुरु होते हैं, उन्हें तुरन्त छिटका देना—दूर कर देना चाहिए।"

'चोड़े भूल्या मानवीजी त्यांने किम आणी जे ठाय'—में कितनो गहरी हृदय-वेदना छिपी हुई है! 'गुण लारे पूजा कही तोहि निगुण पूजता जाय'—में कितना तीव्र पर मधुर व्यंग है! निर्गुण गुरुपूजा का हृदयग्राही सुन्दर खण्डन, कवि की अनोखी सूझ, गहरे अनुभव और सदाचार के प्रति उनके हृदय में रही हुई महान् प्रतिष्ठा का मनोहर दृश्य उपस्थित करता है। नील टाँच के हृदय में राम को मानकर उस के दर्शन में धर्म मानने की मिथ्या मान्यता का सहेतु खण्डन स्वामीजी के प्रबल बुद्धिवादी होने का ज्वलंत उदाहरण है। सोने की छुरी का दृष्टान्त मौलिक होने के साथ-साथ अत्यन्त रोचक और चिताकर्षक है। इसी विषय की एक ढाल के कुछ पद हम यहाँ और देते हैं, पाठक गाकर देखें—उनमें कितनी सुमुधर तान, कितना प्रासाद रस, भावों की कितनी उड़ान और अनुभव की की कितनी गहरी पुट है! स्वामीजी कहते हैं :

सुध साधां पे घर छोड़ी सूतर भणे रे
आचार सरधा में देखे चूक रे
तो कांण न राखे चला गुर तणी रे
खोटा जाणो ने जावे मूक रे
अजाणपणे कुगुरु ने गुरु करे रे
ठीक पडीयां छोड़े ततकाल रे
त्यागी वयरागी त्यां ने जिण कह्या रे
सांहसो हुवे सो सूतर संभाल रे
साधां मांह सुं नीकल भागल हुवे रे
केइ भागल छोड़ी ने होवे साध रे
थोहरा घणां रो कारण को नहीं रे
सुध सरधा थी पांमे सदा समाध रे

घणां रे भरोसे कोइ रहिज्यो मती रे
सुध सरधा ने चलगत मींठी जोय रे
लोक भाषा में पिण इण विध कहे रे
घी खाधो पिण कुलड़ो न गयो कोय रे
कूंडा भरीया जल सुं लाखां गमे रे
सगले छे चन्द्रमानों प्रतिबंब रे
मूरख जाणे गिरलेऊँ चन्द्रमा रे
ते तो आकासे अंतरलंब रे
प्रतिबिंब ने जो कोइ मांने चन्द्रमा रे
ते तो कहीजे विकल समांन रे
ज्यो गुण विण सरधे साधू भेष ने रे
ते खूतां मिथ्याती पूर अग्यान रे
सिद्धन्त भणायो अनन्ता जीवने रे
अनन्ता आगे भणीयो सिधंत रे
गुरु ने चेलो हुवो सर्व जीवनो रे
साची सरधा बिण न मिटी भ्रांत रे
गधा में घाल्यो चन्दन बावनो रे
ते भार तणो विभागी जांण रे
ज्युं क्रिया में हीण थको सूतर भणे रे
समकित विण थोथो मूढ़ अयांण रे
कई भणे भणावे करवा नांमना रे
वले परसंस्या मान बड़ाई हेत रे
सूने चित परमारथ पायो नहीं रे
ज्यूं बीज विण खाली रह गयो खेत रे

अर्थात् "शुद्ध साधुओं के पास घर छोड़कर—दीक्षा लेकर—सूत्र पढ़ने पर यदि कोई चेला आचार-श्रद्धा में गलती देखे तो उसे गुरु की काण—रेख नहीं रखनी चाहिए। यदि गुरु न माने तो उसे बुरा समझ कर छोड़ चला जाना चाहिए।

"अजान में कुगुरु को गुरु बना लेने पर ठीक पड़ते ही उसे तत्काल छोड़ देना चाहिए। ऐसे चेले को जिन भगवान ने सच्चा त्यागी वैरागी बतलाया है। संशय हो तो सूत्र संभाल कर देखो।

"कई शुद्ध साधुओं से दूर हो, भ्रष्ट हो जाते हैं। कई भ्रष्टों को छोड़कर साधु बनते हैं। थोड़ी या अधिक संख्या में आत्मल्याण का कारण नहीं। जिनके हृदय में शुद्ध श्रद्धा रहती है उन्हें सदा आत्म-समाधि प्राप्त होती है।

"अधिक संख्या के भरोसे किसी को नहीं रहना चाहिए। श्रद्धा और चाल शुद्ध है या नहीं—सूत्रों से मिलाकर देखना चाहिए। यह लोकोक्ति भी है कि घी खाया जाता है कोई कुल्हड़े को नहीं गिटता।

"लाखों कूंडे जल से भरे रहते हैं और सबमें चन्द्रमा का प्रतिबिंब रहता है। मूर्ख सोचता है कि मैं चन्द्रमा को पकड़ लूं। परन्तु वह तो आकाश में रहता है। जो प्रतिबिंब को चन्द्रमा मानता है वह पागल के समान गिना जायगा। इसी तरह जो गुण बिना केवल भेष मात्र से किसी को साधु समझता है वह मिथ्यात्वी अज्ञान में पूरा डूबा हुआ है।

"यह जीव अनन्त बार अनन्त जीवों को सिद्धान्त पढ़ा चुका और अनन्त जीवों से सिद्धान्त पढ़ चुका—यह जीव सर्व जीवों का गुरु चेला हो चुका—परन्तु सच्ची श्रद्धा बिना भ्रांति न मिटी।

"जैसे गदहे पर बावना चंदन लाद देने पर भी वह केवल भार को ढोने वाला ही रहता है उसी तरह क्रिया में हीन रहकर जो सूत्र पढ़ता है—वह समकित बिना थोथा—निरा मूढ़ और अज्ञानी ही रहता है।

"कई सूत्र पढ़ते और पढ़ाते हैं पर उनकी दृष्टि कीर्ति, प्रशंसा, मान और बड़ाई की होती है। जैसे बिना बीज हल चलाने से खेत खाली ही रहता है उसी तरह सूने चित्त से सूत्र पढ़ने से जीव परमार्थ नहीं पाता।"

'शुद्ध सरधा से बरते सदा समाध रे,' 'घणां रे भरोसे कोई रहीज्यो मती रे,' 'जो गुण बिन सरधे साधु भेखने रे ते खूंता मिथ्यात्वी पूर अज्ञान रे,' 'साचो सरधा विण न मिटी भ्रांत रे,' 'सूने चित परमार्थ पायो नहीं रे ज्यूं बीज बिण खाली रह गयो खेत रे'—कितने गूढ़ अनुभव वाक्य हैं! जैसे उनमें से आध्यात्म रसका झरना कल-कल करता हो। कुलड़े, चन्द्रमा, गदहे, और बीज के दृष्टान्त वस्तु तत्व को कितनी गंभीरता के साथ स्पष्ट करते हैं! काव्य का संगीत तो घटों तक कानोंमें गूंजायमान रहकर अपना चिर प्रभाव छोड़ जाता है। स्वामीजी से सुबोध लोक कवि कोई युगों के बाद होते हैं।

एक जगह क्रोध और अभिमान की निन्दा करते हुए स्वामीजी ने कहा है :

क्रोध घणो बोले अलखावणो रे
उपसम्यो कलहो करिवा त्यार रे
खिम्या रो मारग छोड़ उजर पर्या रे
ते पिण दुख पामे इण संसार रे
बले भेष ले हलका बोले एहवा रे
कहे म्हां तुल कुण छै ग्यांन भंडार रे
हूं जीवादिक नव ततरो निरणो करूं रे
बले उत्कृष्टो तपसी छुं अणगार रे
एहवा अहंकारी साधू भेख में रे
त्यां नरकादिक जावा दीधी दृत रे
अनेरा उत्तम साधा श्रावकां भणी रे
जांणे आकार मात बंबभूत रे

भृग ज्युं परिया छे कूर जाल में रे
चारित लेने करे अहंकार रे
ते भमण करसी गाढा दुखिया घणा रे
भवकूट सहसार मझार रे
पजा सलाघा ऊंचा गोत ने रे
पाया जीव अनंती बार रे
वयरागे घर छोड़ी संजम लीये रे
गर्व छोड़े तो खेवो पार रे

अर्थात : "जो अत्यन्त क्रोधी होते हैं, अप्रिय वचन बोलते रहते हैं और शांत कलह को करने के लिए तैयार रहते हैं—ऐसे साधु क्षमा के मार्ग को छोड़ कर उजड़ पड़ गये हैं—भटक गये हैं और इस संसार—अटवी में दुःख पायेंगे।

"भेष धारण कर कई ऐसे हल्के वचन कहते हैं कि हमारी तरह ज्ञान का भण्डार कौन है ? हम जीवादि नव-तत्त्वों का सूक्ष्म निर्णय करते हैं एवं तपस्वी अणगार हैं।

"जो दूसरे शुद्ध साधु श्रावकों को बिम्ब मात्र—आकार मात्र समझते हैं—जो साधु वेषमें भी ऐसे अहंकारी हैं उन्होंने नरक जाने की साईदे दी है।

"जो चारित्र ग्रहण करके भी अहंकार करते हैं वे मृग की तरह कूट पास में फंस, गाढ दुःख पाते हैं और कूट जन्म-जन्मान्तर रूप संसार में भ्रमण करते हैं।

"पूजा—सत्कार, श्लाघा, उच्च गोत्र—इन्हें जीव अनन्त बार प्राप्त कर चुका। वैराग्य पूर्वक घर छोड़, संयम लेने के बाद जो गर्व छोड़ता है, उसका खेवापार होता है।"

क्रोध और अभिमान को हटा, क्षमा और मार्दव के मार्ग को ग्रहण करने का उपदेश कितना सरस और श्रेयस है! 'गर्व छोड़े तो खेवो पार रे'—इस छोटे से वाक्य में कितना सुन्दर जीवन-सूत्र है! स्वामीजी ने अपने लोक-काव्यों में इसी

तरह के अनेक अमोलक जीवन-सूत्र दिए हैं जो साधुओं के ही नहीं परन्तु श्रावकों के जोवन को भी अत्यन्त महान् बना सकते हैं।

स्वामीजी ने एक स्थान पर कुनारी-स्वभाव का चित्रण किया है। स्वामीजी कहते हैं कि 'सती' 'कुसती' में एक 'कु' का अन्तर होता है परन्तु यह अन्तर इतना बड़ा होता है कि 'सती' 'शीलगुण' को खान होती है और कुसती अवगुण की। सती सीता के सारखी होती है जिसका वर्णन जिनेश्वर भी करते हैं और कुसती कपिला सारखो जो कुल को कलङ्कित करती है। इतनी भूमिका बांधने के बाद प्रसंग वश कुसती का स्वभाव-चि करते हुए लिखते हैं :

नारी कूड़ कपट नी कोथली, अवगुण नो भंडार। भ० च० *
कलह करवा ने सांतरी, भेद पड़ावनहार। भ० च०
देहलो चढ़ती डिग पड़ै, चढ़ जावे डूंगर असमान भ० च०
घर में बैठी डर करै, राते जाय मसाण। भ० च०
देख बिलाई ओदकै, सिंघ ने सन्मुख जाय। भ० च०
साप उसीसे दे सोवै, उन्दर स्युं भिड़काय। भ० च०
कोयल मोर तनी परै, बोलै मीठा बोल। भ० च०
भीतर कड़वो कुटक-सी, बाहिर करै किलोल। भ० च०
खिण रोवै खिण में हँसे, खिण मुख पाड़ै बूंब। भ० च०
खिण राचै बिरचे खिणै, खिण दाता खिण सूम। भ० च०
धर्म करतां धूंकल करै, ऐसी नार अलाम। भ० च०
बन्दर ज्यू नचावै निज कंथ ने, जाणैक असल गुलाम। भ० च०
नारी ने काजल कोठड़ी, ए बेहुं एकज रङ्ग। भ० च०
काजल नर कालो करै, नारी करै शील भंग। भ० च०
नारी ने बन बेलड़ी, दोनूं एक स्वभाव। भ० च०
कंटक रूंख कुशील नर, तिण स्युं बेहु लग ज्यात। भ० च०

* भवियण। चरित्र सुणो नारी तणा

नाम छै अबला नारनो, पण सबली छै इण संसार। भ०
सबला सुर नर तेह ने, निबला कर दिया नार। भ० च०
सुर नर किन्नर देवता, त्यांने पिण वश किया नार। भ०
नाख्या नरक निगोद में, त्यांरी तो बम्ब न बार। भ० च०
नैण बैण नारी तणा, वचनज तीखा सैल। भ०
अँग तीखो तलवार ज्यूं, इण मार्‌यो सकल संकेल। भ० च०
बिरची तो बाघन स्यु बुरी, स्त्री अनरथ मूल। भ०
पाप करी पोतै भरै, अँग उपजावै सूल। भ० च०
मोर तणी पर नेहना, बोलै मीठा बोल। भ०
साप सपूं छोई गलै, पाड़ लेवै नर भोल। भ० च०
पुरुष पोतै कपड़ा जिसा, नर गुण नवी भांत। भ०
नारी कातर वश पड्यां, काटै है दिन रात। भ० च०
बाघन बुरी बन मांयली, बिलगी पकड़ी खाय। भ०
नारी बाघण वश पड्यां, नर न्हासी कियां जाय। भ० च०
फाटां कानारी जोगणी, तीन लोक ने खाय। भ०
जीवंती चुंटे कालजो, मुवा नर्क ले जाय। भ० च०
नारी लखणा नाहरी, करै वचन री चोट। भ०
केईक सन्त जन ऊबर्‌या, लीधी दयानी ओट। भ० च०
त्रिया मदन तलावड़ी, डूब्यो बहु संसार। भ०
केईक ऊत्तम नर ऊबर्‌या, सत गुरु वचन संभाल। भ० च०
जिम जलोक जल मांयली, तिम नारी पिण जाण। भ०
वा लागी लोही पीवे, नारी पियै निज प्राण। भ० च०
राता कपड़ा पहिर ने, काठा बांध्या माथा रा केश। भ०
हाथां मेंदी लगाय ने, इण ठगोरो ठगियो सारो देश। भ० च०

लोक कहै ग्रह बारमो लागां हणे प्राण । भ०
न्हाखै नरक निगोद में, नारी नव ग्रह जाण । भ० च०
इण संसार असार में, तिणमें मोटी गाल । भ०
माणस खोडै मारीजै, गावै टोडर माल । भ० च०

स्वामीजी जिस चीज का वर्णन करने बैठते, उसका चरम से चरम कोटि का सुन्दर वर्णन उपस्थित कर सकते। उनकी बुद्धि सावण-भादों के बादलों की तरह बर्षती रहती और नए भाव, नई उपमाएं, नए दृष्टान्त, नई सूझ, नये स्वर और नई ताल की बूंदों से श्रोता के हृदय हरे-भरे होते रहते। वे अनुपम उपदेश, अनुपम रूपक और अनुभव ज्ञान की त्रिवेणी बहा देते। उनकी लेखनी कभी रुकती नहीं थी। उनकी वाचा में कभी शिथिलता नहीं आती थी।

कुलटा के साहसिक स्वभाव का जो चित्रण स्वामीजी ने ऊपर किया है, वह मानव-स्वभाव की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भावनाओं का तलस्पर्शी अध्ययन उपस्थित करता है। स्वामीजी के हृदय में सती स्त्रियों के प्रति आदर की भावना है, पर उन्हें तो यहां पर कुलटा नारी के स्वभाव का चित्रण करना है और इसे बड़ी ही खूबी के साथ उन्होंने किया है। एक ओर अबला की अबलता के उदाहरण हैं। दूसरी ओर कुलटा के असाधारण साहसिकता के उदाहरण। कुलटा नारी को काजल की कोठरी की उपमा स्वभाविक हो नहीं पर सर्वथा उपयुक्त भी है। काजल वस्त्र और शरीर को काला करता है; कुलटा नारी शील को कलुषित करती है। कुलटा नारी के स्वभाव की तुलना बन-बेलके साथ बड़ी ही सुन्दर फबी है। बन-बेल कांटों वाले रूख के चिपट जाती है, कुलटा नारी दुश्चरित्र पुरुष से प्रेम करती है। नारी के नैनों को बाण, मधुर-प्रेममय में मधुर शब्दों को भाले की उपमा, उरोज आदि अङ्गों को तीखी तलवार की उपमा—कवि की वैराग्य भावनाओं का सुन्दर परिचय देता है। नारी इन शस्त्रों से सुसज्जित हो—किस तरह सारी सृष्टि का संहार करती

है—यह कवि ने थोड़े, परन्तु सचोट शब्दों में व्यक्त किया है। "पाप करी पोते भरे, अंग उपजावे सूल" कितना सुन्दर और अभिव्यक्तिपूर्ण है। मोर में एक ओर मीठी बोली होती है, दूसरी ओर सपूंछ सर्प को निगल जाने की क्रूरता। स्वामीजी कहते हैं कि कुलटा नारी में भी मोर का यह स्वभाव घटता है।' स्वामीजी कहते हैं कि नारी दर्जन की तरह है जो पुरुष के गुण रूपी भांति २ के वस्त्रों को रात दिन कतरन करती रहती है। नारीको योगिनी की उपमा भी एक अनोखी सूझ है। "जीवन्ती चूंटे कालजो, मूवां नर्क ले जाय" तो वैरागी हृदय की अनुभव बाणी है। कुलटा नारी को नव ग्रह की उपमा, मदन-तालाब की उपमा, जलोका की उपमा -कवि को ऊँची उडान और अनोखी सूझ का परिचायक है। स्वामीजी की कृत्तियां इसी तरह अपूर्व काव्य रस से ओत-प्रोत, सरस, सुबोध और ज्ञानमय हैं।

स्वामीजी की कविता क्या है—एक अनुभवी ज्ञानी की अनोखी वाचा है जो हृदय-तंत्री पर एक चिर मधुर संगीत छोड़ जाती है। स्वामीजी ने काव्य की वीणा पर इसी तरह के अनेक चिर यौवनमय संगीत गाये हैं।

स्वामीजी केवल उपदेशक कवि ही नहीं थे परन्तु कुशल चरित्र-चित्रकार भी थे। उनके व्याख्यान कलापूर्ण चरित्र-चित्रण की विशेषता के अपूर्व उदाहरण हैं। मानव भावों का सूक्ष्म से सूक्ष्म विश्लेषण करने में स्वामीजी उतने ही सिद्ध हस्त थे, जितनी कि ग्रामोफोन के रेकार्ड पर चलने वाली नुकीली सूई रेकार्ड के गान को स्पष्ट करने में होती है। उनके मनोवैज्ञानिक कौशल और चरित्र-चित्रण की खूबी को देखना हो तो उनकी अमर कीर्ति 'सुदर्शन सेठ' के व्याख्यान पर दृष्टि डालिये। सुदर्शन सेठ अपने मित्र मंत्री कपिल के घर जाता है। कपिल की स्त्री कपिला सुदर्शन पर मोहित हो जाती है। वह 'रूपे रम्भा सारसी, अपछर ने उणि-हार' तो थी ही, पर साथ ही 'रूपवंत पुरुष देखे पारको, करती न शंके प्रीत'—ऐसी कुलटा भी थी। 'रूप देख विरहणी थई'—सुदर्शन के रूप को देखकर वह विरह

व्याकुल हो गई। 'काम तणे वश कामणी रे लाल, ना गिणे काज अकाज'—काम के वश हुई कामिनी किस तरह कार्य-अकार्य की ओर दृष्टि नहीं रखती, इसका सुन्दर चित्रण कवि ने किया है। विरह-व्याकुल कपिला अपनी दासी को सेठ सुदर्शन के पास भेजती है और वह छल-प्रपंच कर सेठ को महल में बुला लाती है। इस समय कुलटा कपिला की काली करतूत का चित्रण बड़ा ही रोमांचकारी है। सुदर्शन के मन की स्थिति भी बड़ी ही विचित्र होती है। सुदर्शन की मेरू के समान सुदृढ़ मनोदशा का चित्रण कवि ने बड़े ही सुन्दर रूप में किया है। इस अनहोनी घटना को घटित देख कर 'गात्र परसेओ चल्यो, कम्पण लागी देह'—सुदर्शन के शरीर में पसीना बह चला, शरीर कांपने लगा और 'बिलखो थयो स्वरूप'—चहरा उदास हो गया। वह सोचने लगा 'मैं चरित्र न जाण्यों नार नो, तिण स्यूं आय फंस्यो छू एह'—और फिर उसने दृढ़ प्रतिज्ञा धारण की 'पिण शील न खंडू माहरो, आ करे अनेक उपाय, जो बस छे म्हारी आत्मा, तो न सके कोई चलाय।' कपिला निराश हो गई। वह 'मूके ऊंडा निश्वास'—गहरे निश्वास लेने लगी और 'म्हारी लाज शर्म दोनूं गई, कोई न सरियो काज'—ऐसा विचार कर पछताने लगी।

उपरोक्त घटना के बाद चम्पा नगरी के महाराजा दधिवाहन की महारानी अभया सुदर्शन पर मोहित हो जाती है। कपिला पूर्व वृत कह कर महारानी को सुदर्शन के प्रेम में न फंसने की सलाह देती है। अभया कपिला को 'तोने पुरुष ने वश करवा तणी, कला न दीसे लिगार'—कहकर उसे मूढ़-गवांर बतलाती है। कपिला कहती है—'आपतो बड़ी चतुर—सुजान हैं। देखें! कैसे सुदर्शन को मोहित करती हैं!' इस तरह दोनों में जिदवाद होता है और अभया जिद पर चढ़ जाती है। जिद पर चढी हुई नारी का चित्रण कवि ने इतना सुन्दर किया है कि पढ़कर मन मुग्ध हो जाता है।

अभया सुदर्शन को पराजित करने का बीड़ा उठाती है। वह अपनी धाय से

अपनी मनोदशा प्रकट कर, सेठ सुदर्शन से मिलाने की युक्ति करने का अनुरोध करती है। हठ पर चढ़ी हुई विषयान्ध नारी की मनोस्थिति का सूक्ष्म निरीक्षण करना हो तो अभया की इन बातों को सुनिये। विषयान्ध प्रेमिका को परपुरुष किस रूप में दिखायी देता है—इसका सुन्दर वर्णन यहां आया है। कवि की गूढ़ तूलिका का कौशल इस वर्णन में बड़े ही सुन्दर रूप में प्रगट हुआ है।

अभया राणी कहै धाय ने, म्हांरी बात सुणो चित्त ल्याय हे माय।
थे बालक स्यूं मोटी करी, तोस्यूं बात न राखूं छिपाय हे माय ॥अभया०॥*
मुझ एक मनोरथ ऊपनो, बस रयो छै मन मांय हे माय।
ते बात लजालु छै घणी, पिण कह्यां बिना सरै नांय हे माय ॥
वसन्त ऋतु खेलण गई, राय सहित वन मझार हे माय।
तिण ठामे चम्पानगरी तणा, आया घणा नर नार हे माय ॥
च्यार पुत्र सहित परिवार स्युं, तिहां आयो सुदर्शण सेठ हे माय।
और सेठ बिजा पिण आविया, ते सुदर्शन रे हेठ हे माय ॥
तिणरा अणियाला लोयण भला, जाणक शौभे भाण हे माय।
मुख पूनमचन्द सारखो, तेहनो रूप रसाल हे माय ॥
तिणरी काया कंचन सारखी, सूर्य्य जिसो प्रकाश हे माय।
शीतल चन्दन सारखो हेम सरीखो, उजलो प्रकाश हे माय ॥
तिण ने दिठां लोयन ठरै, तेहनो सोम स्वभाव हे माय।
तिण आगै बीजा स्यूं बापड़ा, कुग राणो कुण राव हे माय ॥
म्हांरो मन लागो छै तेह स्युं, जाणै रहुं सेठ रे पास हे माय।
एह मनोरथ ऊपनो, रात दिवस रहो छूं विमास हे माय ॥
तिण स्यूं भूख तृषा न्हासी गई, निश दिन रहूं छूं उदास हे माय।
म्हांरो मन कठैई लागै नहीं, तिणस्यूं कहूं छूं तुमारे पास हे माय ॥

---

* अभया रणी कहे धाय ने।

हूं मोही सुदर्शण सेठ स्युं, तिण स्युं लाग्यो म्हारो रङ्ग हे माय ।
सेठ स्यूं मिलूं नहीं त्यां लगे, दिन २ गलै छै म्हांरो अङ्ग हे माय ॥
मैं कपिला ने बद २ कह्यो, बश करूं सुदर्शण सेठ हे माय ।
सुख भोगवूं नहीं सेठ स्यूं, ए वचन जाय म्हारो हेठ हे माय ॥
ए वचन तो ज्यांही रह्यो, म्हारी वंछा पूरण हाम हे माय ।
ए मनोरथ पूर्यां बिना, म्हारे हाथ न लागै काम हे माय ॥
ए बात कही तुझ आगलै, अन्तर न राख्यो कोय हे माय ।
हिवै सेठ सुदर्शण भणी, बेग मिलावो मोय हे माय ॥
सौ बातां एक बात छै, ते कही कठा लग जाय हे माय ।
लाड पूरो माय मांहरो, तो जाणुँ साची धाय हे माय ॥

उपरोक्त अनुरोध के बाद पण्डिता धाय और रानी अभया के बीच जो वार्तालाप होता है, वह बड़ा ही रसप्रद और स्वाभाविक है। पण्डिता की हित-शिक्षा और अभया का जिद दोनों चरम कोटि को पहुँच जाते हैं। पाठक इसका भी रसास्वादन करें।

पण्डिता धाय—

राणी ने हे समझावै पण्डिता धाय, "सुण बाई चित्त लगाय
एक सिखावण माहरी जी
इसड़ी बातां हे कहै बाई मूढ गींवार, थे राय तणी पटनार
ए बात थाने जुगती नहीं जी
ऊँचा कुल में हे बाई थे उपज्या आण, बाई थे चतुर सुजाण
ए नीच बात किम काढिये जी
इण बातां हे बाई लाजै तुझ तात, बले लाजे तुम मात
बले पीहर लाजै तुम तणो जी

एहवी बातां हे बाई लाजै माय मोसाल, निज कुल सामों निहाल
त्यांने लागै घणी मोटो मैंहणो जी
एक पीहर है दूजो सासरो जाण, बेहुं कुल चन्द समान
दोनूं पख थारै निरमला जी
इण बातां हे बाई लागै कुल ने कलङ्क, लागै पिढ्यां लग लङ्क
ते सुण २ ने माथो नीचो करै जी
एहवी बातां हे बाई सुणै देश परदेश, सुणसी राय नरेश
निंदा करसो तुम तणी जी
राज मांहे हे बाई थाँरी मोटी मण्ड, होसी जगत में भण्ड
शील बिना एक पलक में जी
शील बिना हे बाई फिट २ करै सहु लोय, अपजश अकीरत होय
नर-नारी मुंह मचकोड़सी जी
पिता सूंपी हे बाई घणां पुरुषां री साख, तिण ऊपर निसचो राख
पुरुष तणी सेवा करो जी
पर पुरुष हे बाई जाणो भाई समान, ए सीख हमारी मान
ज्यूं माम बधै थांरी जगत् में जी
घणी शोभै हे बाई चन्द्रमा स्युं रात, तिम नारी नी जात
शील थकी शोभै घणी जी
जल बिन नदी हे नहीं शोभै लिगार, तिम नारी शिणगार
शील बिना शोभै नहीं जी
शील बिना हे बाई लागै कुल ने कलङ्क, ज्यूं राजेसर लङ्क
कुल ने कलङ्क चढाबियो जी
शील बिना हे बाई रुलियो अनेक, मैणरेहा ने विशेष
मणरथ राजा मर नरके गयो जी

शील थकी हे सीता हुई कुलवन्ती नार, ते गई जनम सुधार
कुल निरमल कियो आपणो जी
शील थकी हे बध्यो द्रौपदी रो चीर, तिण पाल्यो निरमल शील
जनम सुधार्‌यो आपरो जी
शील बिना हे बाई घणा नर नार, गया जमारो हार
पड़िया छै नरक निगोद में जी
शील थकी हे बाई घणा नर नार, गया जमारो सुधार
त्यांरी जश कीरत छै लोक में जी
शील बिना हे बाई जसोमती नी आब, उतर गई छै सताब
शील बिना एक पलक में जी
इसो शील हे बाई पालो मन चित ल्याय, पाछो मन समझाय
वांछा तजो पर पुरुष नी जी
म्हारी मत स्युं हे बाई सीखावूं छूं तोय, निज कुल सामो जोय
पुरुष परायो परहरो जी"

रानी अभया—

"बचन काजे हो धायजी हरचन्द बड़वीर, आण्यो डूम घर नीर
नीच तणी सेवा करीजी
वचन काजे हो लक्ष्मण ने श्री राम, त्यांरो परसिध नाम
बारै बरस बनमें रह्याजी
वचन काजे हो हणुवन्त बड़वीर, गयो लंकारे तीर
सीताजी रे संदेशड़ेजी
रामजी दीधो हो बभीषण ने लंका नो राज, करी रावन री अकाज
लंका बभीषण ने थापियोजी

पांच पांडव हो धायजी वचना रे काज, गयो ज्यांरो राज
नगर बैराट सेवा करी जो
वचन चूक्या हो त्यांरी नहीं रही शर्म, तिण रो ओहिज मर्म
तिण स्युं खपूं छूं म्हांरे वचन ने जी"

पण्डिता धाय :

एहवा वचन हो राणी रा सुण धाय, फेर बोलै बले बाय
"इसड़ी धेठाई बाई मत करो जी
एहवा वचन हो सुणसी महाराज, तो थासी बड़ो रे अकाज
तुमने मोत कुमोते मारसी जी
और सगलो हे बाई तुम परसङ्ग, ते पिण होसी भङ्ग
इण बात में शङ्का को नहीं जी
तिण कारण हे बाई थाने कहूं हूं ताय, निज मन ल्यो समझाय
लीधी टेक पाछी परहरो जी"

रानी अभया :

"सेठजी ने हो धाय तुम ल्यावो छिपाय, ज्युं नहीं जाणै राय
पछै छानो पिण पोंहचायज्यो जी
छानो आणी हो छानो दीज्यो पहुंचाय, ते किम जाणसी राय
थे चिन्ता करो किम कारणे जी"

पण्डिता धाय :

धाय भाखे "हे बाई छानी रहसी किम बात, राय करसी तुम घात
ए बात छिपाई बाई ना छिपै जी
पर पुरुष हे बाई जाणो ल्हसण समान, खावे खुंणे बैसाण
जिहां जाय तिहां परगट हुवै जी

सेठ चाहवो हे बाई चम्पा नगर मझार, थे राय तणी पटनार
ते तो छिपाई बाई ना छिपैजी"

रानी अभया :

"होणहार होणी है ज्यूं होसी म्हारी धाय, सेठने ल्यावो बेग बुलाय
नहीं तो कण्ठ कटारी खावी मरुंजी"

राणी का अन्तिम निर्णय सुन कर धाय को मर्मान्तिक वेदना होती है। उसका चित्रण इस प्रकार है :

सुणो ने हो राणी रा बैण, धाय न्हाखै आंसूड़ा नैण
कर मसलै माथो धूणती जी
मोटा कुल में हो होवै इसड़ी बात, तो किहां थी कुशलात
कोई विघ्न होसी इण राज में जी
पूर्व सेव्या हो उदै आया दिसै पाप, होसी बहुलो सन्ताप
दुखमें दुख उपनो घणो जी

कुशीला नारी कितनी निर्लज्ज होती है, यह अभया के चरित्र में सुन्दर रूप से अङ्कित हुआ है। पण्डिता धाय की हित-शिक्षा स्वर्गाक्षरों में अङ्कित करने योग्य है। शील से पतित होने से जो लौकिक-पारलौकिक बुराई होती है, प्रसंग वश उसका बड़ा ही प्रभावशाली वर्णन आया है। "पर पुरस हे बाई जाणो भाई समान, ज्यूं माम बधै थांरी जगत में जो"—कितना गम्भिर उपदेश पद है! "जैसे चन्द्रमा से रात शोभा पाती है, उसी तरह नारी-जाति शील से अत्यन्त शोभा पाती है।" "जिस तरह जल शुन्य नदो जरा भी शोभा नहीं पाती, उसो तरह शील बिना श्रृगांर-सुसज्जित नारी भी शोभा नहीं पाती।" नारी की रात्री और नदो के साथ और शील की चन्द्रमा और जल के साथ उपमा कवि की गहरी सूझ का परिचय देती है। "पर पुरस है बाई ल्हसण समान, खावै खुणै बैसाण।

जिहां जाय तिहां परगट हुवै जी।" पर पुरुष के साथ लहसुन की तुलना स्वामीजी के संस्कारी दृष्टान्तिक होने का सुन्दर परिचय कराती है।

मनोदशा के ऐसे ही अद्भुत और बारीक चित्र इस काव्य में शुरू से आखिर तक बिखरे हुए हैं। अभया रानी सुदर्शन को वश में न कर सकी, तब क्रोधित हो, उस पर झूठा इल्जाम लगा कर महाराज से उसे दण्डित कराने की चेष्टा करने लगी। महाराज ने सुदर्शन को शूली पर चढाने का हुक्म दिया। यह बात नगर में हाथों-हाथ फैल गई। सुदर्शन जैसे सच्चरित्र व्यक्ति पर व्यभिचार का आरोप किसी को सत्य नहीं लगता था। गाँव के लोगों ने मिलकर राजा से पुकार करने का निश्चय किया। 'इस तरह गाढी मन में धार'—उन्होंने राजा के पास जाकर जो अर्ज की, उसकी अन्तःस्थलता देख कर पाठक प्रफुल्लित हुये बिना नहीं रहेंगे।

राजा प्रजा की नहीं सुनता। बधिक सुदर्शन को शूली—स्थान की ओर ले जाने के लिये नगर के मध्य से होकर निकलते हैं। प्रजा में हाहाकार मच जाता है। अपने घरके सामने आने पर सुदर्शन को अपनी स्त्री मनोरमा से मिलने दिया जाता है। दृढ़धर्मी स्त्री-पुरुष की परस्पर बिदाई अत्यन्त मनोहर और धर्म-रस पूर्ण होती है। मनोरमा अभिग्रह लेती है। अभया अपना षड्यन्त्र सफल होते देख, हर्षित होती है। इन सबका बड़ा ही सुन्दर और हृदयग्राही वर्णन कवि ने अपनी इस कृति में किया है। सेठ सुदर्शन को शूली के पास खड़ा कर दिया जाता है। उस समय सुदर्शन की दृढता को ध्यान में रखने से दुःख में पड़े हुए कायर से कायर मनुष्य के हृदय में भी सत् विचारणा जागृत होकर सच्चा पुरुषार्थ जाग उठता है। पाठकों को यह मनो-मुग्धकारी चित्र हम मूल पुस्तक में अवलोकन करने का आग्रह करते हैं।

* * ❀